श्रीहरिः

सनातनधर्म-शिक्षा



प्रथम-पाठ

स्वर्गीय-सनातनधर्मपताका सम्पादक—

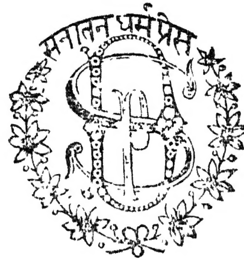
(ऋषिकुमार)

प० रामस्वरूपशर्मा द्वारा

सङ्कलित

जिसको

ऋ॰ कु॰ रामचन्द्रशर्मा ने



मुरादाबाद में छापकर

प्रकाशित किया।

५ मार्च १९२७ ईसवी

* श्रीहरिः *

सनातनधर्म-शिक्षा की

विषयसूची

विषय	पृष्ठ
भूमिका	१
निरञ्जनाष्टक	२३
अवतरणिका	२५

प्रथम-खण्ड

अध्याय	विषय	पृष्ठ
१	एक	३२
२	बहुत	४०
३	पुनर्जन्म	४६
४	कर्मफलतत्त्व	५७
५	यज्ञविधि	६७
६	दृश्य और अदृश्य लोक	७४

द्वितीय-खण्ड

अध्याय	विषय	पृष्ठ
१	संस्कार	८१
२	श्राद्ध	८५
३	शौच	८७
४	पञ्चयज्ञ	९३
५	उपासना	९६

अध्याय	विषय	पृष्ठ
६	चार आश्रम	१०१
७	चार वर्ण	१०६
	तृतीय-खण्ड	
१	नीतिविज्ञान क्या है ?	११६
२	धर्म ही नीतिशास्त्र की भित्ति है	११९
३	सत् और असत्	१२३
४	नीति का परिमाणदण्ड	१२९
५	धर्म की भित्ति	१३१
६	आनन्द और भाव	१३९
७	आत्मानुगत धर्म	१४३
८	गुरुजनों के साथ व्यवहार	१५६
९	समानके साथ व्यवहार	१७२
१०	निकृष्टोंके साथ व्यवहार	१८६
११	परस्परके प्रति पाप और पुण्य की शक्ति	२०५

सनातनधर्म-शिक्षा की विषयसूची समाप्त।

—०—



॥ श्रीगणेशाय नमः ॥



भूमिका

आहार—निद्रा-भय-मैथुनञ्च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥
एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति ॥

खाना, सोना डरना और कामवासना आदि मनुष्य और पशु दोनोंका ही साधारण धर्म है, केवल धर्म ही मनुष्यकी विशेषता (आदमियत) है, धर्महीन मनुष्य पशुकी समान है। एक धर्म ही सच्चा मित्र है, क्योंकि-यह मरनेके बाद भी साथ जाता है, और सब ही देहका नाश होनेके साथ२नष्ट होजाते हैं।

परन्तु ध्यानके साथ देखा जाय तो जगत्‌में सबके धर्म समान नहीं हैं। अग्निका धर्म उष्णता है तो बरफका धर्म शीतलता है। सार बात यह है कि-पशुका धर्म प्रवृत्ति है और मनुष्यका धर्म निवृत्ति है। सब मनुष्योंके चित्तकी वृत्ति एकसी नहीं होती है, सबका स्वभाव भी एकसा नहीं है। कोई भक्तिभावमें मग्न है, कोई ज्ञानकी ओर झुका हुआ है और कोई कर्मकाण्डका ही प्रेमी है। किसीको विज्ञानकी चर्चा अच्छी लगती है, कोई दर्शन-शास्त्रकी चर्चामें प्रेम रखता है। ऐसे ही कोई गणितशास्त्रकी, कोई सङ्गीतकी, कोई काव्यकी और कोई धर्मशास्त्रकी चर्चाको अच्छा समझता है।

इसके सिवाय मनुष्यजाति मात्रमें सब ही एकसमान विद्या बुद्धि नहीं रखते हैं, इसलिये सबको ही एकसा अधिकारी नहीं कहा जासकता। जो अक्षर तक नहीं पहिचान सकता वह क्या उच्च ज्योतिषको या विज्ञानको अथवा दर्शनके दुरूह विषयको हृदयंगम कर सकता है ? जिसके आँखें नहीं है, वह क्या शिल्पविद्याका पारदर्शी होसकता है ? जिसके श्रवणशक्ति नहीं है वह क्या संगीतश्रवणका अधिकारी होसकता है ? नहीं ऐसा कभी नहीं होसकता। वास्तविक अध्यात्मतत्त्व एक है, परन्तु जब तक मनुष्य पूर्णता नहीं पाता है, और जब तक सब विषयोंमें पराकाष्ठाको नहीं पाजाता है, तब तक इसको अपनी शक्तिके अनुसार एक विषयका साधन करके क्रमोन्नतिके सोपानके द्वारा उस एक अद्वितीय तत्त्वमें पहुँचनेकी चेष्टा करनी होती है, इस लिये और २ विद्याओंको प्राप्त करनेमें जैसे अधिकारीके भेदसे भिन्न २ पाठ और भिन्न २ साधनोंके द्वारा उन्नति करनी होती है, तैसे ही धर्ममार्गमें भी अधिकारीके भेदसे भिन्न २ साधन होनेकी आवश्यकता है।

नहीं तो अत्यन्त स्थूलबुद्धि पुरुष किसप्रकार निराकार निर्गुण ब्रह्मकी धारणा कर सकता है ? वह अपने स्वभावके अनुसार ही मनुष्यके उत्तम गुणोंकी पराकाष्ठाकी ब्रह्ममें कल्पना करके उसको सगुण ईश्वरभावसे आराधना करनेमें प्रवृत्त होता है और उस सगुण साधनाको करते २ वह ज्ञानकी उन्नति करता हुआ निर्गुणकी साधनामें जा पहुँचेगा। निर्गुणकी साधना, गुणवाचक उपासना, अर्चन या आराधनाके द्वारा नहीं होसकती, बाहरी चित्र या मानसिक चित्र (Physical or mental image) के द्वारा निर्गुण निराकारकी साधना नहीं होसकती। इसी लिये शास्त्रमें सगुण ईश्वरकी आराधनाका नाम अर्चना या उपासना रक्खा है और निर्गुण निराकारकी साधनाका नाम योग कहा है

निराकार ब्रह्मकी उपासना वा आराधना है ही नहीं किन्तु वह ब्रह्मसाधन वा योग होता है। वास्तवमें निर्गुणसाधनका कोई नाम ही नहीं होसकता। क्योंकि-नाममात्र गुणवाचक है इसलिये मनुष्योंकी भाषामें जहाँ तक प्रकट किया जासकता है तहाँ तक उसका योग अर्थात् परमात्माके साथ जीवात्माका योग यह नाम कल्पना किया गया है*।

सनातन हिंदूधर्म पूर्णावयव है, जिज्ञासु पुरुष सम्यक् प्रकार ध्यान देने पर उसको पासकता है। इस सनातन धर्मके सकल तत्त्वोंको वास्तविक रीतिसे पूरा २ जाननेके लिये बहुतसे शास्त्र-ग्रन्थोंको पढ़नेकी आवश्यकता है। यथा—

वेद-ऋक्, यजु, साम और अथर्व नामक अतिविस्तृत और अतिगूढार्थ मूल धर्मशास्त्र तथा उसकी बहुतसी शाखा प्रशाखाएँ।

उपनिषद्-कठ, मुण्डक, छांदोग्य आदि वेदोल्लिखित ईश्वरतत्त्वके सारांशस्वरूप अतिगूढार्थ प्रायः ७०। ७५ तत्त्वनिर्णय करनेवाले शास्त्र।

---

* शास्त्रमें भी इस विषयका वर्णन है-

विष्णुरात उवाच—

ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः ॥
कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात्सदसतः परे ॥

विष्णुरातः (विष्णुनारातो दत्तः परीक्षित) उवाच हे ब्रह्मन् निर्गुणे (गुणरहिते) अनिर्देश्ये (अनिर्वचनीये) ब्रह्मणि, गुणवृत्तयः (गुणेषु वृत्तिर्यासां ताः) श्रुतयः कथं साक्षात् [मुख्यया वृत्त्या] चरन्ति? [लक्षणया, इति, चेत-न, यतः] सदसतः परे [सत्यादिकार्यभूताभ्यां सदसद्भ्यां संगशून्य वस्तुनि लक्षणापि न सम्भवति] ॥ १ ॥

विष्णुरात राजा परीक्षितने कहा [१] ब्रह्मन्! आपने अभी ब्रह्मको वेदप्रतिपाद्य कहा है, परन्तु ब्रह्म किस प्रकार वेद-प्रतिपाद्य है, यह मेरी समझमें नहीं आता, ब्रह्म निर्गुण जाति

वेदांग,शिक्षा,कल्प, निरुक्त और छन्द यह चार तथा माहेश पाणनीय आदि १० । १२ व्याकरण ग्रन्थ और असीम ज्योतिष ग्रन्थ, यह छः प्रकारका शास्त्र ।

गणित और फलित भेदसे ज्योतिष दो प्रकारका है । जैसे त्रिकोणमिति, ज्यामिति, बीजगणित, पाटीगणित सूर्यसिद्धान्त और गोलाध्याय आदि ग्रन्थ सब गणितज्योतिषके अन्तर्गत हैं ।

ग्रहणका फलाफल,अदृष्टका फलाफल भूत और भविष्यत् घटनाका निर्णय इत्यादि विषयके ग्रंथ फलितज्योतिषके अन्तर्गत हैं

स्मृति–मनु, अत्रि, विष्णु हारीत, याज्ञवल्क्य आदि प्रायः ५० वेदशास्त्रज्ञ ऋषियोंके रचे हुए मूल धर्मशास्त्र ।

पुराण–भागवत, वामन, ब्रह्माण्ड आदि १८ ग्रंथ ।

उपपुराण–पुराणके अधिकांश लक्षणयुक्त १८ ग्रन्थ ।

तन्त्र रुद्रयामल, महोदधि आदि ।

आदि विशेषणरहित है । जाति, गुण और क्रियायुक्त सगुण वस्तुका ही वाक्यसे वर्णन होसकता है । ब्रह्म जातिरहित गुणरहित और क्रियारहित निर्गुण वस्तु है । ऐसी वस्तु कभी भी शब्दके द्वारा निर्दिष्ट नहीं होसकती । गुणोंमें ही शब्दकी प्रवृत्ति देखनेमें आती है । शब्दसमूह वेद कदापि तैसी वस्तुका निर्देश नहीं करसकता । गुणप्रवृत्ति [२] सकल वेद किसप्रकार गुणरहित अनिर्वचनीय ब्रह्मका मुख्य वृत्तिके द्वारा प्रतिपादन करेंगे ? और जिसका मुख्य [३] के द्वारा भी प्रतिपादन नहीं होसकता उसका लक्षणावृत्ति [४] के द्वारा भी प्रतिदिन नहीं किया जासकता । क्योंकि शब्द जिसका प्रतिपादन नहीं कर सकते हैं उसको कहा ही कैसे जासकता है ? और ब्रह्म तो सत्त्वादि तीनों गुणोंके कार्यभूत सत् और असत् सब ही वस्तुओं से अतीत और असंग वस्तु है, अतएव उस ब्रह्म वस्तुका लक्षणावृत्तिके द्वारा भी किसप्रकार प्रतिपादन कियाजासकता है ?

दर्शन-न्याय, सांख्य, पातञ्जल, वेदांत, चार्वाक बौद्ध आदि १६ ग्रन्थ इतिहास-रामायण महाभारत आदि ग्रंन्थ।

शब्दशास्त्र यादव, मेदनी, आदि प्रायः ५० कोश वा अभिधान ग्रंथ इनके सिवाय अन्य विद्याएं चौंसठ कलाओंमें मानीगई हैं।

यथा—संगीतविद्या, शारीरविधानविद्या, चिकित्साविद्या, रसायनविद्या, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि।

इन सब शास्त्रोंके टीका, बहुतसी टिप्पणी, बहुतसे संग्रहग्रंथ और उन संग्रहग्रन्थों के भी बहुतसे टीका टिप्पणी हैं।

इन सब शास्त्रोंमें एक वेद ही अखण्डनीय है, वेद ही सकल शास्त्रोंकी मूल वा प्राण है। श्रुति स्मृतिका परस्पर विरोध होने पर श्रुतिको ही गरीयसी मानना होगा, यथा—

"श्रुतिस्मृति विरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी।"

इसके सिवाय और भी लिखा है-

आर्षं धर्मोपदेशंच वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥ मनु

जो पुरुष वेद शास्त्रके अविरोधी तर्कसे धर्मोपदेश अर्थात् स्मृति आदिके अर्थकी संगति लगाता है वह ही वास्तवमें धर्म के मर्मको जानता है, दूसरा नहीं।

और उसमें भी कितने ज्ञान विचारकी आवश्यकता है देखिये वसिष्ठजीने कहा है—

युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि।
अन्यत् तृणमिव त्याज्यमप्युक्तं पद्मजन्मना॥

युक्तियुक्त उपदेशका वचन बालकसे भी ग्रहण करलेय और युक्तिविरुद्ध बात चाहे ब्रह्माके भी मुखसे निकले तो उसको तृणकी समान त्याग देय।

बृहस्पति ऋषिने कहा है कि—१

केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्त्तव्यो विनिर्णयः।

युक्तिहीनविचारेण धर्महानिः प्रजायते ।

केवल शास्त्रका आश्रय करके किसी तत्त्वका निर्णय नहीं करना चाहिये, क्योंकि-युक्तहीन शास्त्रविचारसे धर्मकी हानि होती है। मुण्डक ऋषिने कहा है-

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद शिक्षा, कल्प व्याकरण निरुक्त, छन्द और ज्योतिष यह सब अपरा (अश्रेष्ठ) विद्या है और जिस विद्यासे अव्यय परब्रह्मको जाना जाता है वह परा (श्रेष्ठ) विद्या है।

यह ज्ञान युक्तिकी प्रधानता और चिन्ताकी स्वधीनता हिन्दू धर्मकी एकमात्र विशेषता नहीं है। और भी दो चार विशेषताकी बातें नीचे लिखते हैं-

(क) पहिले हरएक मनुष्यकी मनोवृत्तिकी स्वाभाविक विलक्षणताकी बात कह चुके हैं, यह कल्पित बात नहीं है, कोई मनुष्य सत्वगुण प्रधान होते हैं, कोई रजोगुणप्रधान होते हैं और कोई तमोगुणप्रधान होते हैं। शास्त्रने भी इस स्वाभाविक विभागका अवलम्बन करके भिन्न २ प्रकृतिके मनुष्योंके कर्त्तव्य-पालन और साधनके लिये भिन्न २ प्रकारकी रीति बताई हैं।

(ख) हिंदूधर्ममें मनुष्यजातिके असाधारण बुद्धिमान, साधारण बुद्धिमान् और अत्यंत मूढ़ इन तीनों प्रकारके मनुष्योंके धर्मानुष्ठानकी यथायोग्य भिन्न २ व्यवस्था करदी है।

(ग) स्त्री और पुरुषोंकी मानसिक प्रकृति, शारीरिक शक्ति और कार्यसाधनकी उपयोगिताके विषयमें जो स्वाभाविक विलक्षणता है, हिंदूशास्त्रने उसका विचार करके दोनोंके धर्मानुष्ठानकी यथोचित उपयोगी व्यवस्था करदी है। जैसी कठोरता और वैराग्य पुरुषोंके साध्य हैं, वह कोमल स्वभाववाली स्त्रियों

के लिये अतिकठिन है, इसको सब ही मानेंगे, परन्तु न्यायशील शास्त्रकारोंने युग्मात्माको तुल्य फल दिया है अर्थात् पत्नीको सहधर्मिणी करके स्वामीके पुण्यकी अर्धभागिनी बनादिया है।

(घ) अवस्थाके क्रमके अनुसार मनुष्यकी मानसिक और शारीरिक शक्तियें कमी वेशी होती हैं। इस लिये बालक, ज्वान और बूढ़ोंके यथोचित धर्मानुष्ठान की व्यवस्था की गई है।

(ङ) नीरोग और रोगी, बलवान् और दुर्बल इत्यादि भिन्न२ अवस्था और शक्तिवाले, सकल मनुष्य एक ही प्रकारका अनुष्ठान कर सकें यह कदापि सम्भव नहीं है। अथवा संपत्तिकाल और आपत्तिकालमें एक ही प्रकारका अनुष्ठान करना नहीं बनसकता इसकारणसे दूरदर्शी ऋषियोंने अवस्थानुसार आपद्धर्म आदि देशकालोपयोगी विधान पहिलेसे ही कर दिया है।

(च) योगके द्वारा दिव्यदृष्टि पानेवाले ऋषिजन परलोक की अवस्था और तत्त्वका स्वयं प्रत्यक्ष करके, उसके अनुकूल पापपुण्यकी न्यूनाधिकताके अनुसार दंड और पुरस्कारकी न्यूनाधिकताका वर्णन करके दयामय जगदीश्वरकी न्यायपरायणताको अक्षुण्ण रखगए हैं "पुण्यवान् पुरुष अनंतकाल तक स्वर्गसुख भोगेगा और पापी पुरुष अनन्तकाल तक नरक में पड़ा रहेगा।" अर्थात् अनन्तकाल बीतने पर भी परित्राणकी आशा नहीं है। यह बात करुणामय भगवान्की दया और न्यायपरायणताके सर्वथा विरुद्ध है। सनातनधर्म साक्षी देता है कि-पापी के पापका क्षय होने पर वह फिर उन्नतिके मार्गपर चढ़सकेगा और अन्तको उसको भी पुण्यात्माकी समान मोक्ष प्राप्त होगी।

(छ) सनातनधर्मकी अनेकों विशेषताओंमें सबसे प्रधान विशेषता यह है कि-साकार और निराकार भेदसे उपासनाके क्रमका विधान और इस निराकारके ध्यानके विषयमें ज्ञान-

प्रधान व्यक्तिके लिये ज्ञानयोग, भक्तिप्रधान पुरुषके लिये भक्तियोग और कर्मप्रधान पुरुषके लिये कर्मयोगकी जो व्यवस्था की है, उसमें सब प्रकारके अधिकारी अपने २ स्वभावके अनुकूल मार्गका अवलम्बन करके सब ही उस परममुक्ति वा निर्वाण पद में आरोहण कर सकते हैं।

परन्तु साकार उपासनाकी बात उठाते ही हमारे आजकल के अंग्रेजी विश्वविद्यालय के उपाधिव्याधिग्रस्त युवक "पौत्तलिकता,, कहकर चीत्कार कर उठेंगे वास्तवमें प्रचलित, अपभ्रंश हिंदूधर्म भी पौत्तलिकताप्रधान धर्म नहीं है। राजा राममोहन राय इस विषयमें एक शास्त्रका वचन उद्धृत करके यह प्रमाणित कर गए हैं। ॥

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥
रूपस्थानं देवतानां पुंस्त्र्यंशादि कल्पना।

स्मार्त्तधृतयमदग्नि-वचन।

ज्ञानस्वरूप, अद्वितीय, उपाधिशून्य, शरीररहित जो परमेश्वर उसके रूपकी कल्पना साधक उपासककी साधनाकी सहायता के लिये ही कीगई है और रूपकी कल्पना करने पर स्वाभाविक ही अवयवोंकी पुरुष स्त्री भेदरूप कल्पना करनी पड़ती है

रूपनामादिनिर्देशविशेषणविवर्जितः।
अपक्षयविनाशाभ्यां परिणामार्त्तिजन्मभिः॥
वर्जितः शक्यते वक्तुं यः सदास्तीति केवलम्।

(विष्णुपुराण)

परमात्मा रूप नाम आदि विशेषणोंसे रहित, नाशरहित, परिणाम शून्य और दुःख तथा जन्मसे शून्य हैं केवल 'है' इतना कहकर ही उसका वर्णन कियाजाता है।

अप्सु देवा मनुष्याणां दिवि देवा मनीषिणाम् ।
काष्ठलोष्ट्रेषु मूर्खाणां युक्तस्यात्मनि देवता ॥

मनुष्य केवल जलको ही ईश्वर मानते हैं दैवज्ञ आदि ग्रहादि में ईश्वर मानते हैं, काठ मट्टी आदिको ही मूर्ख ईश्वर मानते हैं और जो ज्ञानी हैं वह परमात्माको ही ईश्वर मानते हैं ।

परे ब्रह्माणि विज्ञाते समस्तैर्नियमैरलम् ।
तालवृन्तेन किं कार्यं लब्धे मलयमारुते॥ (कुलार्णव)

परब्रह्मका ज्ञान होनेपर कर्मकांडादि किसी नियम का प्रयोजन नहीं रहता है 'जैसे मलयागिरिकी पवन मिलजाने पर तालवृन्त (पंखे) की कोई आवश्यकता नहीं रहती है ।

यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

जिसका वाणी वर्णन नहीं करसकी, जो वाणीको प्रेरणा करता है, उसको ही तुम ब्रह्म जानो, लोक जो कुछ परिमित पदार्थों की उपासना करते हैं यह ब्रह्म नहीं है ।

एवं गुणानुसारेण रूपाणि विविधानि च ।
कल्पितानि हितार्थाय भक्तानामल्पमेधसाम् ॥

इस प्रकार गुणोंके अनुसार भगवान्के नाना प्रकारके रूप अल्पबुद्धि भक्तोंके लिये कल्पना किएगए हैं ।

मनसा कल्पिता मूर्त्तिर्नृणां चेन्मोक्षसाधिनी ।
स्वप्नलब्धेन राज्येन राजानो मानवास्तदा ॥

मनःकल्पित मूर्त्ति यदि मनुष्योंकी मुक्तिका कारण हो तो स्वप्नमें पाए हुए राज्यसे भी मनुष्य अनायासमें राजा होजाय।

बालक्रीड़नवत्सर्वं रूपनामादिकल्पनम् ।
विहाय ब्रह्मनिष्ठो यः स मुक्तो नात्र संशयः ॥

म० नि०-तन्त्र

नाम रूप आदि कल्पनाको बालकोंके खेलकी समान जान

कर मनुष्य सत्स्वरूप परमेश्वरकी उपासनाके द्वारा मुक्त हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं है।

मृच्छिलाधातुदार्वादिमूर्त्तावीश्वरबुद्धयः ।
क्लिश्यन्ति तपसो मूढा परां शान्तिं न यान्ति ते ॥

श्रीमद्भागवत

जो मूढ पुरुष मट्टी, पत्थर, तथा सोना आदि धातु और काठके बने हुए विग्रहको ही ईश्वर मान बैठते हैं, वह क्लेश पाते हैं, परम शान्ति नहीं पासकते।

न कर्मणा विमुक्तः स्यान्न मन्त्राराधनेन वा ।
आत्मनात्मानं विज्ञाय मुक्तो भवति मानवः ॥

म० नि० तन्त्र

मनुष्य कर्मसे मुक्ति नहीं पासकता, केवल मन्त्र वा आराधनसे भी निर्वाण पद नहीं मिलता, जब आत्माके द्वारा आत्मा को जानता है तब ही मुक्ति पाता है।

यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् ।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः ॥

श्रीमद्भागवत,

सकल प्राणियोंमें वर्त्तमान सर्वात्मा मुझको (ईश्वरको) मूढतावश भूलकर जो पूजा करता है वह मानो भस्ममें होम करता है।

साकारमनृतं विद्धि निराकारन्तु निश्चलम् ।

अष्टावक्रसंहिता

जो कुछ पञ्चभूतात्मक आकारवाला दीखता है, उसको कुछ दिन रहनेवाला जानो और परब्रह्मको अचल सत्य मानो।

तोयं विना यथा नास्ति पिपासानाशकारणम् ।
तत्वज्ञानं विना देवी मुक्तिर्नैव प्रजायते (कुलार्णव)

हे देवि ! जैसे जलके बिना प्यासकी शान्ति नहीं होती है तैसे ही तत्त्वज्ञानके विना मुक्ति नहीं होती है।

इन अनेकों शास्त्रोंके बचनोंसे यह बात सिद्ध होती है कि-अल्पबुद्धि अज्ञ पुरुष निराकार अनन्त परमेश्वरकी धारणा नहीं करसकते, उनकी उपासनाकी सहायताके लिये अनेकों रूपों की कल्पना हुई है, तथा अनेकों प्रकारकी साकार उपासनाका विधान हुआ है परन्तु ब्रह्मके स्वरूपको बिना जाने कभी मुक्ति नहीं होसकती। परब्रह्मकी उपासना ही इस धर्मका प्रधान उपदेश है। हिंदूशास्त्रमें यह बात बार२ कही है कि-ब्रह्मको जाननेकी चेष्टा करे, ब्रह्मज्ञानके बिना मुक्तिका दूसरा उपाय नहीं है। यथा-

तन्दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति

वह दुर्ज्ञेय है, सब वस्तुओंमें गूढरूपसे प्रविष्ट है, आत्मामें स्थित है, अतिगूढ स्थानमें रहता है, नित्य है और धीर पुरुष परमात्माके साथ अपने आत्माका संयोग करते हुए अध्यात्मयोगसे उस प्रकाशवान् परमेश्वरको पाकर हर्ष शोकसे छूटजाते हैं

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥

उसको नेत्रसे ग्रहण नहीं किया जासकता, वाणीसे नहीं ग्रहण किया जासकता, और अन्य इन्द्रियें भी उसको ग्रहण नहीं करसकतीं, तपस्या वा यज्ञ आदि कर्मोंके द्वारा भी वह नहीं मिलता, ज्ञानके प्रसादसे शुद्धचित्त पुरुष ध्यानयुक्त होकर निरवयव ब्रह्मको पासकता है।

नित्यो नित्यानाञ्चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥

जो सकल अनित्य वस्तुओंमें एकमात्र नित्य है, जो सकल चेतनोंका चेतयिता है, जो अकेला ही सकल प्राणियोंकी काम्य वस्तुओंका विधान करता है। जो धीर पुरुष उसको आत्मा में स्थित देखते हैं उनको नित्य शान्ति प्राप्त होती है, दूसरोंको कभी नहीं मिलसकती।

प्रवेश्यात्मनि चात्मानं योगी तिष्ठति योऽचलः।
पापं हन्ति पुनीतानां पदमाप्नोति सोऽजरम्॥

जो परमात्माके साथ अपने आत्माको मिलाकर अटलभावसे योगीके स्वरूपमें स्थित होता है वह पापका नाश करता है, और अक्षय ब्रह्मपदको पाता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥

इसप्रकार योगी पुरुष परमात्माके साथ अपने आत्माका संयोग करके निष्पाप हो सुखसे ब्रह्मस्पर्शके आनंदको भोगता है।

तावद्विचारयेत्प्राज्ञो यावद्विश्रांतमात्मनि।
संप्रयात्यपुनर्नाशां स्थितिं तुर्यपदाभिधाम्॥

जब तक परमात्मामें विश्राम नहीं मिले तब तक तत्त्वविचार करता रहै, क्योंकि ऐसा करनेसे शुद्ध चैतन्य परमात्माके साथ अविनाशी एकता मिलती है।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा,
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो,
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

जिस परमात्मा को नियत सत्य, तपस्या सम्यक् ज्ञान और ब्रह्मचर्यके द्वारा पायाजाता है वह ज्योतिर्मय, स्वच्छ, परमेश्वर शरीरके भीतर मनमें विराजमान है। योगिजन निष्पाप होकर उसका ही दर्शन करते हैं।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥

यह चित्स्वरूप परमात्मा सकल प्राणियोंमें प्रच्छन्न रूपसे स्थित है, अध्यात्मदर्शी साधक जन उसको एकाग्र मनसे देखते हैं।

(इस विषयमें आगे लिखा निरञ्जनाष्टक देखिये)

हिंदूशास्त्रमें बताई हुई साकार उपासनाकी परिपाटीमें चार प्रधान कौशल विद्यमान हैं ।

प्रथम-जब तक मनुष्यके ज्ञानरूपी नेत्र नहीं खुलते हैं तबतक इस स्थूलदृष्टिसे दीखनेमें न आनेवाले जगदीश्वरके अस्तित्व (होने) का अनुभव नहीं होसकता है और जगदीश्वर सर्वव्यापी है, चेतन अचेतन सब ही पदार्थोंमें वह विद्यमान है, जो कुछ स्थूल-ज्ञानी पुरुष हैं, वह यदि जगत्की किसी अचेतन जड़ मूर्त्तिमें ईश्वर बुद्धि स्थापित कर और वह मनुष्यकी समान सुख दुःख आदि का अनुभव करता है ऐसा मानकर उसके ऊपर स्नेह ममता आदि प्रकाशित करनेका अभ्यास करें तो अवश्य ही उनका अन्तःकरण कुछ निर्मल और निश्चल होगा तथा क्रम २ से धर्म की प्रवृत्तियें बढ़ती जाँयगी। इस युक्तिसे ईश्वरकी आत्मवत्सेवा नामक प्रथम कौशलकी रचना हुई है ।

पुराणादि शास्त्रोंका, मूर्त्तिपूजा आदिके आधार पर सब आलंकारिक वर्णन इसी कौशलसे प्रकट हुआ है ।

द्वितीय-जब ऐसा ज्ञान होजाता है कि-सब पदार्थोंमें ईश्वरकी विद्यमानता होने पर भी किसी जड़मूर्त्तिमें विद्यमान ईश्वरांश वास्तविक सुख दुःखका अनुभव नहीं करता है और मनुष्यादि की समान उसकी कोई निकृष्ट प्रवृत्ति भी नहीं है, तब उस पुरुष को सुख दुःखसे अतीत पवित्रस्वरूपस्थानमें केवल भक्ति, दिखाने की इच्छा ही बलवती होती है, उस समय सन्मुख स्थित किसी भावमयी मूर्त्तिके निकट हाथ जोड़े खडे होकर उसके चरणकमलों

में पुष्पांजलि अर्पण करना आदि जैसा साक्षात् भक्तिके प्रकाशित करनेका चिन्ह है तैसा और नहीं है, इस युक्तिके आश्रय पर "चित्रित वा निर्मित मूर्त्तिमें" चेतनताकी कल्पना करके ईश्वरपूजारूप दूसरे कौशलकी सृष्टि हुई है।

मूर्त्तिकी प्राणप्रतिष्ठा और विसर्जन आदि सब व्यवस्था इसी कौशलसे उत्पन्न हुई हैं।

तृतीय-क्रमसे साधना करते २ जब ईश्वरकी सर्वव्यापिताका ज्ञान दृढ होजाता है तब निर्मित मूर्त्ति आदिके बिना भी किसी भी बाहरी वस्तुमें ईश्वरपूजाकी सफलताका अनुभव होने लगता है। इसीके लिये 'बाह्यपूजा' रूप तीसरे कौशलका अवलम्बन किया गया है।

जलके पात्रमें नदी आदिमें और तुलसीवृक्षादिमें अव्यक्त चैतन्यकी पूजा इसी कौशलसे उत्पन्न हुई है।

चतुर्थ-क्रमसे ज्ञानकी उन्नति होते २ जब ऐसा बोध होता है कि-जीवात्मा ही परमात्माका अंशस्वरूप है, उस समय अपने शरीरमें ही ईश्वरके अस्तित्वका अनुभव होता है, उस अवस्थाके लिये 'मानसपूजा' नामक चौथे कौशलकी सृष्टि हुई है।

प्रतिदिनकी पूजाके समय आन्तरिक आसनशुद्धि भूतशुद्धि और मानसिक पूजा आदिकी उत्पत्ति इसी कौशलसे हुई है।

(ज) एकमात्र हिंदूधर्म ही ईश्वरको हृदयमें स्थित जानकर अर्चना करनेका उपदेश देता है, प्रतीत होता है कि-जगत्का दूसरा कोई भी धर्म स्पष्टरूपसे ऐसा उपदेश नहीं देता है, ईश्वरको अपने हृदयमें चित्रित देखने पर जैसा घनिष्ठ संबन्ध मालूम होता है तैसा और किसी प्रकारसे भी नहीं होता।

(झ) सनातनधर्ममें बार २ परमात्माके साथ जीवात्माके योगका विषय विशेषताके साथ विचारित नियमित और व्या-

ख्यात हुआ है पृथिवीके और किसी धर्मके शास्त्रमें दिव्ययोग-मार्गकी ऐसी विशद और विस्तृत व्याख्या देखनेमें नहीं आती।

(ञ) भूमण्डल पर अनेकों धर्मसम्प्रदाय और उनके मान्य धर्मग्रंथ हैं तथा वह सब ही मनुष्यको सन्मार्गगामी शिष्टाचारी और मोक्षसाधनमें तत्पर होनेका उपदेश देते हैं, परन्तु एक आर्यऋषि—प्रणीत शास्त्रके सिवाय और कोई निष्काम कर्म निष्काम उपासना और निष्काम साधनाकी शिक्षा नहीं देता है और धर्मोंमें केवल इस लोकके वा परलोकके सुखकी प्रत्याशा से धर्मानुष्ठानका विधान देखनेमें आता है, केवल एक आर्यऋषि ही फलकी कामना न करके धर्मके निमित्त ही धर्मसाधनकी और ईश्वरके निमित्त ही ईश्वरोपासनाकी व्यवस्था करगए हैं।

(ट) जगत्के प्रायः सकलधर्मावलम्बी कहते हैं कि—'हमारे धर्मको न माननेसे तुम अनन्त नरकमें पड़ोगे। हमारा मोक्षमार्ग ही एक मोक्षमार्ग है, और सब भूले हुए हैं, सबका कहना मिथ्या है, परन्तु हिन्दूशास्त्र क्या कहता है उसको भी एक बार देखिये।

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

(महिम्नःस्तव)

अर्थात् रुचिके भेदके अनुसार सूधे टेढ़े मार्गोंमेंको होकर मनुष्य अन्तमें तुमको ही पाते हैं, जैसे सकल नदियें चाहे जिस मार्गसे जायँ अन्तमें जाकर महासागरमें ही मिलजाती हैं।

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः।
त्वय्येव निपतन्त्योघाः जान्हवीया इवार्णवे ॥ (रघुवंश)

शास्त्रोंके द्वारा अलग २ बताए सिद्धि देने वाले अनेकों मार्ग इसप्रकार आपमें जाकर मिल जाते हैं कि—जैसे गंगाकी

बहुतसी धारें अलगर बहती हुई भी अनेकों प्राणियोंको पवित्र करती हुई समुद्रमें जा मिलती हैं ।

अन्तराऽपि तु तद्दृष्टेः ॥ (वेदांतसूत्र)

रैक्य, वाचक्नवि आदि वर्णाश्रमके आचारसे हीन पुरुषभी साधना करते २ ब्रह्मज्ञानके अधिकारी हुए, यह बात शास्त्रोंमें देखी गई है । केवल वर्णाश्रमके आचारसे हीन हिंदूही परित्राण पानेके अधिकारी हों ऐसा नहीं है; किन्तु किरात, यवन आदि अनार्य जातियोंके पुरुष भी (कि-जो आर्यजातिके साथ सदा विद्रोह करते रहे और उनके धर्मानुष्ठानमें विघ्न डालते रहे वह भी) एकसाथ धर्मके अधिकारसे वञ्चित या ईश्वरके परित्याज्य नहीं है, इस बातको भी बार २ कहा है जैसा कि—श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि-

किरातहूणान्ध्रपुलिंदपुक्कसा
आभीरकङ्का यवना खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः,
शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥

किरात, हूण, पुलिन्द, पुक्कस, आभीर, कंक, यवन, खस आदि तथा और पापाचरणी पुरुष भी जिनका आश्रय लेकर शुद्ध होगए, उन विष्णुको मैं नमस्कार करता हूँ ।

इस परम उदारताकी प्रतिकूलता करके कोई २ कदाचित् कहने लगेंगे कि—गीतामें स्वयं भगवानने कहा है-

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

इस भगवद्वाक्यके गूढ़ार्थको विशद करके व्याख्या करनेका इस समय अवसर नहीं है परन्तु इसका साधारण अर्थ करने पर भी भगवानके कथनकी उदारताके विषयमें जरा

भी सन्देह नहीं रहेगा। अर्थ यह है कि-अपने धर्मका विगुण अर्थात् अङ्गहीन अनुष्ठान भी अच्छा है,परन्तु परधर्मका सुचारु अनुष्ठान भी कल्याणकारक नहीं है,अपने धर्ममें मरण होजाना भी अच्छा है, परन्तु पराया धर्म भयदायक है।

इस साधारण अर्थमें भी भगवान्‌ने ऐसा नहीं कहा है कि सब मनुष्य अपने २ धर्मको छोड़कर हिंदूधर्मावलंबी होजाँय किंतु भगवान् कहते हैं कि हर एक मनुष्य अपने२धर्म मार्गके द्वारा अपनी उन्नति करे। तुम आर्य हो,आर्यधर्मके द्वारा ही तुम्हारी उन्नति होगी। तुम ईसाई हो तो ईसाईधर्मके द्वारा ही तुम्हारी उन्नति होगी। मुसल्मानोंकी मुसलमानधर्मके द्वारा ही उन्नति होगी। पूर्व २ जन्म में अर्जित कर्मसूत्रके अनुसार विधाताने जिसको जो धर्म दिया है वह उस धर्ममें ही अपनी उन्नति कर सकेगा। यदि दूसरे धर्ममें जन्म लेनेसे तुम्हारी धर्मोन्नतिमें सुभीता होता तो तुम्हारा जन्म नियन्ता सर्वशक्तिमान् ईश्वर तुम्हारा उस धर्म में ही जन्म होनेकी व्यवस्था करसक्ता था,लेख बढाजाता है और अधिक बाते कहनेका अवसर नहीं है। केवल आजकल सनातन आर्यधर्मकी अवनति होनेके दो चार कारणोंका उल्लेख करके इस भूमिकाको समाप्त करते हैं। समय पाकर सब ही पदार्थोंकी उन्नति अवनति होती है। आर्यजातिकी अतिउन्नतदशा युग२ में घटकर अन्तको आजकल कलियुगके समयमें यवनादि जातियोंके अत्याचारसे उसके गौरवका सूर्य अस्तसा होगया है, उसके दो चार कारण नीचे दिखाते हैं।

प्रथम-तो भिन्नधर्मावलम्बी राजाके समीप वा राजकीय पाठशालाओंमें आर्यधर्मकी प्रशंसा नहीं है,किंतु निन्दा तिरस्कार है। इसलिये पढनेकी अवस्थामें ही हमारे देशके नवयुवाओंको आर्यशास्त्रसमुद्रमें स्थित गम्भीरतत्त्वज्ञानसे भरे धर्म पर सहजमें ही अश्रद्धा उत्पन्न होजाती है।

दूसरे, हिंदूधर्मके उपदेश दाता ब्राह्मण आजकल जीविकाके लिये शास्त्रके व्यवहारको छोड़कर निकृष्ट व्यवसायोंका आश्रय लेनेलगे, इसकारण योग्य उपदेशकोंके अभावसे शास्त्रके गूढ अर्थका प्रचार और उसकी प्रतिष्ठाका अभावसा होगया है। इधर जो लोग वर्त्तमान राजाके मान्य क्रिश्चियन मत अथवा उस की नकल स्वरूप किसी सहज साध्य धर्म पर प्रेम और सनातन आर्य धर्मके साथ द्वेषभाव दिखाते हैं, वह आज कलकी नई पश्चिमी ढङ्गकी शिक्षा पाये हुए समाजमें सन्मान पाते हैं और धन पैदा करनेमें सफलमनोरथ होते हैं।

तीसरे, हिंदूधर्मके अनुष्ठनमें अनेकों शारीरिक और मानसिक तपस्याओंके करनेका विधान है और नित्य नैमित्तिक याग, यज्ञ व्रत पूजा आदिमें थोड़ा बहुत खरच भी होता है। परंतु ईसाई धर्ममें या आजकलके और आधुनिक धर्मोंमें ऐसी व्यवस्था नहीं है। इसलिये जो स्वभावके आलसी हैं, जिनके चित्तमें धर्मभाव कम है, जो कंजूस हैं और जो आरामतलब हैं वह पुरुष स्वभाव से ही हिंदूधर्मके अनुष्ठानमें श्रद्धाहीन होते चले जाते हैं।

चौथे, भिन्नधर्मी लोग हर समय सनातन आर्यधर्मकी निंदा करके सुकुमारमति बालकोंकी बुद्धि भ्रष्ट कर देते हैं और केवल एकाध पुस्तक पढकर तथा एक बार मात्र गिरिजा आदि साधन मन्दिरोंमें इकट्ठे हो उपासना करके मोक्ष पानेका अतिसहज मार्ग (Royal Road दिखादेते हैं और शिक्षित पुरुषोंको धर्मानुष्ठान न करते देखकर अन्य साधारण लोग भी शास्त्रकी आज्ञाओंसे द्वेषभावसा रखते हुए श्रद्धाहीन होते चले जाते हैं।

सार यह है-जिसका अनुष्ठान न करने पर राजद्वारमें या पूर्वोक्त प्रकारके शिक्षित समाज में मान प्रतिष्ठा वा धनकी प्राप्ति नहीं, किन्तु उलटा तिरस्कार होता है। और जिसका

अनुष्ठान न करमें तिरस्कार नहीं होता, किन्तु पुरस्कार मिलता है, उस शास्त्र वा धर्मकी यदि अवनति हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

क्रिश्चियन मतावलंबी पुरुष अधिक बुद्धिमान् और ज्ञानसंपन्न होने पर भी क्यों हिंदूधर्म पर अश्रद्धा दिखाते हैं और द्वेषभाव रखते हैं, इसके कुछ एक कारण भी यहाँ दिखाने उचित हैं।

प्रथम कारण तो क्रिश्चियनोंका हिंदूधर्ममें ठीक २ स्वरूपको न समझना है। हिन्दूधर्मकी मृतप्राय दशामें क्रिश्चियन लोग इस देशमें आये हैं। इसलिए कोई मुमूर्षु पुरुष किसी अपरिचित पुरुषको अपनी पंडिताई और प्रतिष्ठाका जितना परिचय देसकता है। अपरिचित क्रिश्चियन धर्मको भी हिंदूधर्म उस समय इससे अधिक परिचय नहीं देसका इसलिये क्रिश्चियनोंने आते ही जैसा देखा उससे सनातन आर्य धर्मको असार समझने लगे।

दूसरे आजकल प्रचलित बाइबिलके अर्थके अनुसार क्रिश्चियन लोगोंके चित्तपर जो कुसंस्कार जमगया है, वह इस अश्रद्धा का दूसरा कारण है उन्होंने बालकपनसे ही अपने शिक्षकोंसे यह उपदेश पालिया है कि–दूसरा जन्म नहीं होता, कर्मका फल मिले ही यह कोई आवश्यक बात नहीं है और किसी भी प्रकार की साकार उपासना हो वह नरकगतिका अमोघ कारण है ईसाइयोंके सिवाय और किसीकी मुक्ति कभी हो ही नहीं सकती भगवान् एक बार ही जगत्के हितके लिये ईशूख्रीष्टके रूपसे अवतीर्ण हुए हैं, वे इस अनन्तकालमें और कभी अवतीर्ण नहीं हुए, बाइबिलमें कहे हुए ६००० वर्षसे पहले जगत्का अस्तित्व नहीं था। ऐसी कुसंस्कारोंकी अन्धता उनको और धर्मोंका मर्म समझने ही नहीं देती। द्वेषबुद्धि वा तिरस्कारके साथ पदार्थको आद्योपान्त देखने पर भी उसका सच्चा मर्म नहीं

मालूम होसकता। क्रिश्चियन आदि भिन्न धर्मियोंमें के किसी भी उदारचित्त पुरुषने जिस समय द्वेष और तिरस्कार बुद्धिको त्याग, अपने या दूसरोंके धर्म पर किसी प्रकारका पक्षपात न करते हुए सनातन आर्यधर्मके तत्वकी आलोचना की है उसी समय उसने इसी मतकी बड़ीभारी प्रशंसा की है।

तीसरे, पूजनीय वैष्णव और तान्त्रिक संप्रदायमें तथा अन्यत्र भी ऐसे दो एक नीचकर्मावलम्बी विभाग हैं कि वह धर्मकार्यके नामसे अनेकों नीच और अपवित्र काम करते हैं इसके सिवाय बहुतसे ब्राह्मणोंमें भी अनेकों कुसंस्कार ऐसे घुसगए हैं कि-उनको देखकर शिक्षितमण्डलीने विचारा कि-कुछ दिनों सब प्रकारसे ऐसे कार्यों की प्रतिकूलता विनाकरे उन कुसंस्कारोंका दूर होना कठिन है।

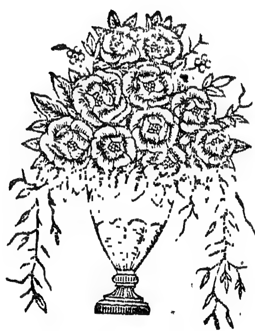
गृहस्थ पुरुषोंके लिये घर और परिवार शान्त और प्रीति का आलय है। परन्तु आजकल पीछे लिखेहुए अनेकों कारणों से उस एक ही परिवारमें कोई नास्तिक है, कोई अर्धनास्तिक है, कोई क्रिश्चियन है, कोई ब्रह्मसमाजी है कोई आर्यसमाजी है और कोई इधरके हैं न उधरके हैं। इसलिये उस शान्तिमन्दिर में रात दिन अशान्ति और अप्रीतिका गाढ़ प्रवेश रहता है शास्त्रका उपदेश करनेवालोंके संस्कार, धर्मानुष्ठानके नामसे जो अनेकों कुसंस्कार या दुराचार हिन्दूसमाजकी जड़में जा पहुँचे हैं उनको दूर करना, स्त्रियोंकी सुशिक्षाका विधान, सामाजिक अनेकों कुरीतियोंको दूर करना तथा वेदादि शास्त्रोंके पढ़नेका विशेष प्रबन्ध जब तक ठीक नहीं होगा तब तक सनातन आर्य-धर्मको पहिली सी प्रतिष्ठा मिलना एकप्रकार असम्भवसा है।

महासागरकी गहरी तलीमें जाकर खोज करना अथवा हिमालयका चूरा २ करके उसके भीतरके रत्नोंको निकालकर इकट्ठा

करना जैसा अति कठिन है, आर्य धर्मशास्त्रसमुद्रके गूढ तत्त्वोंका संक्षेपके साथ प्रचार करना भी उतना ही कठिन और एकप्रकार असम्भवसा कार्य है तथापि जिससे सनातनधर्मानुयायी आर्यों की सन्तान सहजमें ही शास्त्रके अर्थका कुछ एक मर्म समझ सकें, इसके लिये काशीस्थ सेंट्रल हिन्दू कालिजके ट्रष्टियोंने अंग्रेजीमें जो एक सुन्दर संग्रह किया है, इस पुस्तकमें उसीका हिन्दी अनुवाद बा० गिरीशचंद्रदत्तके बंगला अनुवाद की सहायता लेकर किया गया है, और यह भूमिका भी उक्त बाबू साहब की लिखी बंगला भूमिकाका ही हिन्दी अनुवाद है जिसके लिये बाबू साहबको धन्यवाद देकर इस लेखको समाप्त किया जाता है ।

मुरादाबाद
१५ जनवरी १९०७

प्रकाशक





॥ ॐ तत्सत् ॥

श्रीशंकराचार्यविरचितम्

निरञ्जनाष्टकम्

स्थानं न मानं न च नादविन्दू
रूपं न रेखा न च धातुवर्णम् ।
द्रष्टा न दृश्यं श्रवणं न श्राव्यम्
तस्मै नमो ब्रह्मनिरञ्जनाय ॥ १ ॥

जिसके स्थान, मान, नाद, विंदु, रूप, रेखा कुछ नहीं है, जिसके धातु या वर्ण नहीं हैं, जो देखने वाला, दीखने वाला, सुनना और सुननेमें आने वाला नहीं है, उस निरञ्जन ब्रह्मको नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

वृक्षो न मूलं न च वीजकूलं,
शाखा न पत्रं न च वल्लिपल्लवम् ।
पुष्पं न गन्धं न फलं न छाया ।
तस्मै नमो ब्रह्मनिरञ्जनाय ॥ २ ॥

जो सदानन्दमय वृक्षरूप है, परन्तु जिसके मूल, बीज, शाखा

पत्र नहीं है, तथा लता, पुष्प, गन्ध, फल और छाया नहीं है, उस निरञ्जन ब्रह्मको नमस्कार है ॥ २ ॥

वेदो न शास्त्रं न च शौचसंख्ये
मन्त्रं न जाप्यं न च ध्यानध्येयम् ।
होमो न यज्ञो न च देवपूजा,
तस्मै नमो ब्रह्मनिरञ्जनाय ॥ ३ ॥

वेद, शास्त्र, शौच, सन्ध्या, मन्त्र, ध्यान, होम, यज्ञ और देव-पूजादि क्रियावान् जो नहीं है, जिसको कुछ ध्यान करना वा जपना नहीं है, उस निरंजन ब्रह्मको नमस्कार है ॥ ३ ॥

अधो न ऊर्ध्वं न शिवो न शक्तिः,
पुमान् न नारी न च लिङ्गमूर्तिः
ब्रह्मा न विष्णुर्न च देवरुद्र-
स्तस्मै नमो ब्रह्मनिरञ्जनाय ॥ ४ ॥

जिसका ऊपर नीचे नहीं है, शिव, शक्ति नहीं है पुरुष प्रकृति वा लिंगमूर्ति नहीं है, न ब्रह्मा हैं न विष्णु हैं, न जिसके रुद्रदेव हैं उस निरंजन ब्रह्मको नमस्कार है ॥ ४ ॥

अखण्डखण्डं न च दण्डदण्डं,
कालोऽपि जीवो न गुरुर्न शिष्यः
ग्रहा न तारा न च मेघमाला,
तस्मै नमो ब्रह्मनिरञ्जनाय ॥ ५ ॥

न जगत्का अंश काल दंड पल है, न जीव है न गुरु शिष्य है, न मेघमण्डल है, न ग्रह है न नक्षत्रमण्डल है, उस निरञ्जन ब्रह्मको नमस्कार करता हूँ ॥ ५ ॥

श्वेतं न पीतं न च रक्तरेतो,
हेमं न रौप्यं न च वर्णवर्णम् ।
चन्द्रार्कवन्हेरुदयं न चास्तं,
तस्मै नमो ब्रह्मनिरञ्जनाय ॥ ६ ॥

न रक्त है न बीज है, न श्वेत है, न पीत है, न सोना है, न चाँदी है, यह सोम, सूर्य, अग्नि नहीं है, अतः इसका उदय अस्त भी नहीं होता, ऐसे निरंजन ब्रह्मको नमस्कार है ॥ ६ ॥

स्वर्गे न पंक्तिर्नगरे न क्षेत्रे
जातेरतीतं न च भेदभिन्नम् ।
नाहं न च त्वं न पृथक् पृथक्त्वात्,
तस्मै नमो ब्रह्मनिरञ्जनाय ॥ ७ ॥

जो स्वर्ग, नगर या क्षेत्रमें नहीं रहता है, जो जातिसे अतीत है और जो पृथक् भी नहीं है तथा मैं, तू वह जिसका है, उस निरंजन ब्रह्मको नमस्कार करता हूँ ॥ ७ ॥

गम्भीरधीरं न निर्वाणशून्यं,
संसारसारं न च पापपुण्यम् ।
व्यक्तं न चाव्यक्तमभेदभिन्नम्
तस्मै नमो ब्रह्मनिरञ्जनाय ॥ ८ ॥

जो गम्भीर वा धीर नहीं, संसार का सार धन है, पाप पुण्य से असंग व्यक्त और अव्यक्त नहीं है, तथा जिसके भेदभाव नहीं है, ऐसे निरंजन ब्रह्मको नमस्कार है ॥ ८ ॥

—०—

ॐ तत्सत् ॥

॥ ॐ श्रीगुरवेनमः ॥

श्रीसनातनधर्मशिक्षा

अवतरणिका

मङ्गलं दिशतु नो विनायको, मंगलं दिशतु नः सरस्वती
मंगलं दिशतु नः समुद्रजा मंगलं दिशतु नो महेश्वरी॥ १ ॥

श्री गणपति हमको मङ्गल दें, श्री सरस्वती देवी हमको मङ्गल दें, श्रीलक्ष्मीजी हमको मङ्गल दें, औरभगवती महाशक्ति हमका मङ्गल दें।

जो सबसे पुरातन धर्म है उसको 'सनातनधर्म' कहते हैं (जो सत्य होता है वह अनन्तकाल तक वर्त्तमान रहता है, यह हिंदुओं का मान्य सत्यधर्म अनादिकालके साथ २ चला आता है, इसी लिये इसका नाम सनातनधर्म है) इसकी मूल वेद है। वेदनामक पवित्र ग्रन्थ अनेकों युग पहले ब्रह्माजीको और फिर उनके द्वारा ऋषियोंका प्राप्त हुआ था। इस धर्मका दूसरा नाम आर्यधर्म है क्योंकि आर्यजातिकी आदिम शाखाको ही यह पहले प्राप्त हुआ था। आर्य शब्दका एक सूचा अर्थ है—प्रतिष्ठित। जो सकल जातियें जगत्के इतिहासकी प्रथम अवस्थामें वर्त्तमान थीं, उनकी अपेक्षा इस जातिके लोग अधिक सुशोभन और सुचरित्र होनेके कारण इस नामसे कहे जाते थे। आजकल जो देश भारतवर्ष वा इण्डिया नामसे प्रसिद्ध है; इसके उत्तर भागमें आर्य लोगोंने प्रथम निवास किया था, इसी कारण वह भाग आर्यावर्त्त नामसे प्रसिद्ध है। मनुस्मृतिमें लिखा है कि-'हिमालय और विंध्याचल के बीचका जो भूखण्ड पूर्वसागरसे पश्चिम सागर तक चलागया

है, उसको पण्डित आर्यावर्त्त कहते हैं (१)

समयानुसार यही धर्म हिन्दूधर्म नाम पाकर अब भी इसी नामसे पुकारा जाता है। आजकल जितने धर्म प्रचलित हैं, यह उन सबमें अधिक प्राचीन है। इस धर्ममें जितने प्रसिद्ध आचार्य लेखक महर्षि, पण्डित, साधु, नृपति, रणवीर, राजनातिज्ञ, दाता और स्वदेशहितैषी होगए है, वैसे और किसी सम्प्रदायमें देखनेमें नहीं आते। इस धर्मके तत्त्वको तुम जितना २ समझते जाओगे उतना ही अधिक तुम्हारी इस धर्म पर श्रद्धा और प्रीति बढ़ती जायगी। उतने ही तुम इस धर्ममें जन्म लेनेके कारणसे अपने को कृतार्थ मानोगे। परन्तु पहले इस धर्मके योग्य पात्र बनना होगा। इसके उच्चसे उच्च तत्त्वमें प्रवेश करनेका अधिकार बिना पाए यह परम पवित्र धर्म तुम्हारा कुछ भी उपकार नहीं करसकेगा।

सनातनधर्मकी भित्ति-यह पुरातन धर्म-अतिदृढ़ भित्ति पर स्थापित हैं। भित्ति (नींव) के ऊपर इसके परकोटेकी दीवारें बड़ी मजबूतीके साथ बनी हुई हैं। वह अतिदृढ़ (खूब मजबूत) भित्ति श्रुति नामसे और परकोटा स्मृति नामसे प्रसिद्ध है।

श्रुतियोंको ऋषियोंने देवताओंसे सुनकर पाया था, वह सब पवित्र वाक्य पहिले समयमें कभी लिखे नहीं जाते थे। विद्यार्थी गुरुओंके मुखसे सुनकर ही अभ्यास कर लेते थे और निरन्तर उसकी आवृत्ति (बार २ पाठ) करते थे।

गुरु,शिष्योंके सामने श्रुतियोंका गान करते थे, शिष्य उसीके अनुसार धीरे २ गानका अभ्यास करते थे। जब तक कण्ठस्थ नहीं होजाता था तब तक इसी प्रकार बराबर अभ्यास करते रहते थे आजकल भी श्रुतियें उसी पुरानी रीतिसे पढ़ीजाती हैं

(१) आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्त्तं विदुर्बुधाः॥ (मनु० २।२२)

तुम किसी वैदिक पाठशालामें जाने पर उन श्रुतियोंके गानको सुन सकते हो।

चारों वेदोंका नाम श्रुति है। वेद शब्दका अर्थ है-ज्ञान अर्थात् जो जानाजाय। जो ज्ञान इस पवित्र धर्मकी नींव है, वह ही चारों वेद हैं। वह चारों वेद ऋग्वेद, सामवेद यजुर्वेद और अथर्ववेद नामसे कहे जाते हैं।

हरएक वेद तीन भागमें बटाहुआ है। १-मन्त्र या संहिता २-ब्राह्मण और ३-उपनिषद्। मन्त्रभागमें विशेष २ कर्मोंके उपयोगी शृंखलाबद्ध मन्त्र हैं। मन्त्रोंमें जिस क्रमसे शब्द रक्खे गए हैं उसके कारण उन मन्त्रोंमें एक विशेष शक्ति है, वह देवताओंकी स्तुतिके लिये गाये जाते हैं। देवताओंके साथ मनुष्य का किस प्रकारका सम्बन्ध है, यह बात आगे दिखाई है। इन सब मन्त्रोंका विधिपूर्वक यथार्थ उच्चारण किया जाय तो यह फलदायक होते हैं। अनेकों प्रकारके यज्ञोंमें इन सब मन्त्रोंका प्रयोग किया जाता है, और यदि इन सब मन्त्रोंका उन यज्ञोंमें यथार्थ-रीतिसे उच्चारण कियाजाय तो यज्ञका फल प्राप्त होता है

वेदके ब्राह्मण-भागमें यज्ञकी विधिका वर्णन है। मन्त्र भागमें जो मन्त्र हैं, उनके प्रयोगकी पद्धति इस भागमें वर्णन की गई है, और अनेकों उपाख्यानोंके द्वारा उन सब विषयोंको स्पष्ट कर दिया है।

सकल उपनिषदोंमें ब्रह्मतत्त्व विषयके अनेकों दार्शनिक तत्त्वों की मीमांसा कीगई है, इन सब ग्रन्थोंमें जीवात्मा और परमात्मा मनुष्य और विश्व तथा बन्ध और मोक्षके विषयकी परम सुंदर आलोचना कीगई है। यही सब दर्शनशास्त्रोंकी मूल है। जब तुम उच्च शिक्षा पाओगे, तब तुम इन सब उपनिषदोंकी आलोचना करके तृप्त होजाओगे। उच्च शिक्षा न पानेवाले साधारण पुरुषों को उनका समझना बहुत ही कठिन है।

पुराने समयमें वेदका चौथा भाग वर्त्तमान था, उसको उप-वेद वा तन्त्र कहते थे। उसमें अनेकों प्रकारका ज्ञान और उसके प्रयोगकी विधिका वर्णन था। आजकल उन मूलतन्त्रोंमें से बहुत थोड़ेसे लोकमें प्रचलित हैं। ऋषियोंने आजकल उन सब शास्त्रोंके अधिकारी न देखकर उनको जहाँ मनुष्य न जासकें ऐसे आश्रमोंमें रक्षा करके रक्खा है। आजकल वैदिक-विधिके साथमें कर्मकाण्ड संबंधी थोड़ी सी तान्त्रिकविधि प्रचलित है। जो ग्रंथ आजकल तन्त्र नामसे प्रसिद्ध हैं वह वेदके अंतर्गत नहीं हैं

श्रुतिका मत सबसे अधिक मान्य है, उसको सनातनधर्मके सब ही सम्प्रदायोंके लोग सर्वोपरि मीमांसा मानते हैं। सब सम्प्रदाय और सब ही दार्शनिक, श्रुतिकी मीमांसाको शिरोधार्य मानते हैं।

स्मृतियों और धर्मशास्त्रोंकी मूल श्रुति है। इसकारण इन सबका स्थान (दरजा) भी दूसरा है। स्मृतिशास्त्र प्रधानरूपसे बड़े२ चार ग्रन्थोंमें लिखा हुआ है (१)

(१) मन्वत्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनांगिराः।
यमापस्तम्बसम्वर्त्तकात्यायनबृहस्पतिः।
पराशरव्यासशंखलिखितदक्षगौतमाः।
शातातपो वसिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः॥

इन श्लोकोंमें लिखी स्मृतियें आजकल भी प्रचलित हैं उनमें मनुसंहिता ही प्रधान है। ऊपर जो चार स्मृतियोंको प्रधान कहा है उसका कारण यह है कि—मनुसंहिता सत्ययुगके लिये याज्ञवल्क्य त्रेताके लिये, शंख लिखित द्वापरके लिये और पराशर कलियुगके लिये विशेषरूपसे रची गई है, अर्थात् इन चारमें ही तिन२ युगोंके धर्म विशेषरूपसे कहे हैं, परन्तु तब भी वेदार्थके अनुगामी होनेसे मनु ही प्रधान है और मनुके प्रतिकूल जिस स्मृतिमें जो कुछ मत लिखा है वह नहीं माना जासकता।

यह सब ग्रन्थ ऋषियोंके रचे हुए हैं। स्मृतियोंमें मनुष्य के परिवारके, समाजके, जातिके और राजनीतिके लिये अनेकों प्रकारके विधिनिषेध लिखे हैं। हिंदूसमाज स्मृतियोंकी व्यवस्था के ऊपर ठहरा हुआ है, वह चार स्मृतियें यह हैं—

१ मनुस्मृति या मानवधर्मशास्त्र। २ याज्ञवल्क्यस्मृति। ३ शंखलिखितस्मृति। ४ पराशरस्मृति॥

मनुस्मृति ही सब स्मृतियोंमें प्रधान है। इसमें सनातन आर्य-धर्मकी सब व्यवस्था विधिविधानसे लिखी हैं। मनुजी आजकल की आर्यजातिके प्रधान व्यवस्था देनेवाले हैं, हिंदुओंके काल विभागके अनुसार जगत्का इतिहास सात भागोंमें बँटाहुआहै उन सात विभागोंके आरम्भ और समाप्ति एक २ मनुके द्वारा निर्दिष्ट हैं, वह भाग मन्वन्तर नामसे कहेजाते हैं। मन्वन्तर शब्दसे दो मनुओंके बीचका समय समझाजाता है।

स्वायम्भुव मनुके वंशमें और भी महातेजस्वी छः मनु उत्पन्न हुए थे, उन्होंने अपने २ अधिकारके समयमें सकल प्रजाओंकी सृष्टिकी है (१) इससे सिद्ध होता है कि-हम चौथे मन्वन्तर में वर्त्तमान हैं। यह विवस्वान्के पुत्र वैवस्वत मनुके अधिकार का समय है, उनकी कुछ व्यवस्थाएँ मनुस्मृतिमें लिखीगई हैं।

याज्ञवल्क्य स्मृति भी मनुजीकी प्रणालीके अनुसार ही रची गई है। इसमें भी मनुके अनुसार ही सकल विषयोंका वर्णन है। स्मृतियोंकी प्रधानतामें इसका दूसरा स्थान है। शेष दो स्मृतियों का विशेष व्यवहार नहीं है।

श्रुति और स्मृति जैसे सनातनधर्मरूपी किलेकी नीव और परकोटा स्वरूप हैं तैसे ही उसके अवलम्बनस्वरूप पुराण तथ इतिहास नामक और भी दो अंग हैं।

(१) स्वायम्भुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे।
सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वा महात्मानो महौजसः॥ म० २॥

पुराणोंमें इतिवृत्त, उपाख्यान और रूपकके मिषसे वेदके अर्थकी व्याख्याकी है, जिनका वेदमें अधिकार नहीं है, अधिक ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है उनके निमित्त ही पुराणग्रन्थ रचे गए हैं, ये ग्रन्थ बडे मनोरम और अनेकों विषयोंसे भरे हुए हैं। अनेकों रूपक ऐसे गूढ अर्थसे भरे हुए हैं कि- गुरुकी सहायताके विना उनका समझना ही कठिन है।

इतिहासके दो पद्यग्रंथ हैं। एक रामायण कि-जिसमें दशरथ पुत्र श्रीरामचन्द्रजी, उनकी पत्नी सीता और श्रीरामचन्द्रजीके भ्राताओंका मनोरम उपाख्यान वर्णित है, जिसको कि- हिन्दू-धर्मावलम्बी प्रायः जानते हैं। दूसरा महाभारत है कि-जिसमें उत्तरभारतके कुरुराजवंशका इतिहास विशेषभावसे वर्णित है इस कुरुवंशकी दो शाखा कौरव पाण्डवोंके महायुद्धका वर्णन ही इसमें प्रधान है। उसके साथ २ में और भी बहुतसे मनोहर उपाख्यान और नीतिके विषयकी कथाका वर्णन है।

रामायण और महाभारतके पढ़नेसे हमको प्राचीन भारतका आचार, व्यवहार, लोकचरित्र और शिल्प व्यापार आदि अनेकों विषयोंका ज्ञान होसकता है।

यदि तुम इन बड़े २ दोनों ग्रन्थोंको पढोगे तो जानसकोगे कि-पहिले भारतकी कितनी उन्नति थी और उसके साथमें ही यह भी जानसकोगे कि-भारतकी पहली सी उन्नत दशाके लिये किन २ साधनोंकी आवश्यकता है।

जैसे श्रुति और स्मृति तथा पुराण और इतिहासके द्वारा यह धर्मरूपी किला बनाया गया है, तैसे ही इस धर्मसे सर्वांगसुन्दर वैज्ञानिक और दार्शनिक अनेकों ग्रन्थोंकी उत्पत्ति हुई है।

विज्ञानके ग्रंथ षडङ्ग नामसे कहेजाते हैं। उस षडङ्गको आज कल लोग लौकिक ज्ञानके ग्रन्थ समझते हैं। पुरातन समयमें धर्मतत्त्व एक ही सूत्रमें बँधाहुआ था। शिक्षा, कल्प, व्याकरण,

निरुक्त, छन्द, ज्योतिष यह छः (षडङ्ग) हैं व्याकरण शब्दतत्व, ज्योतिष, चौंसठ कला, कल्पशास्त्र और शिक्षाके ग्रंथविज्ञानके अन्तर्गत समझे जाते थे। जो कोई षडङ्गको पढ़ते थे, उनको अनेकों प्रकारका गंभीर ज्ञान प्राप्त होता था।

दर्शन भी छः हैं। उन सब शास्त्रोंकी सहायतासे सब प्रकार की वस्तुओंके द्वारा स्वरूपका दर्शन करनेकी शक्ति प्राप्त होजाती थी, इसकारण इन सब शास्त्रोंका दर्शन नाम पड़ा है। सब ही दर्शनोंका प्रयोजन पुरुषार्थलाभ है। अत्यन्त दुःखनिवृत्तिका नाम पुरुषार्थ है। परमात्मा और जीवात्माका योग ही वह पुरुषार्थ है। इसका पहिला उपाय ज्ञानकी प्राप्ति है। परंतु हरएक का मार्ग भिन्न २ है, वह मार्ग मनुष्यके अधिकारके अनुसार है, इस लिए षड्दर्शनको, एक स्थान पर पहुँचनेके भिन्न २ छः मार्ग कहना अनुचित नहीं है।

इन ६ दर्शनोंमें जो कुछ है, उसमेंसे जितना तुमसे सुकुमारमतियोंके समझमें आसक्ता है, उतना ही यहाँ कहा है।

न्याय और वैशेषिक दर्शनने सकल पदार्थोंका श्रेणीविभाग करके मीमांसाकी है कि—मनुष्य इन सब वस्तुओंको प्रमाणके द्वारा जानसकते हैं। प्रमाण तीन प्रकारके हैं—प्रत्यक्ष. अनुमान और आगम (ऋषिवाक्य) इसके अनन्तर यह पृथिवी किस प्रकार अणुपरमाणुसे उत्पन्न हुई है, इस बातकी मीमांसाकी गई है। फिर ईश्वरतत्त्व ही चरम और प्रधानज्ञान है, इस बातकी मीमांसा कीगई है।

सांख्यमें नई रीतिसे विशेष विस्तारके साथ प्रकृति-पुरुषके विषयकी मीमांसा की गई है।

योगशास्त्रमें और शास्त्रोंमें कहेहुए दश इंद्रियोंके अतीत. अति सूक्ष्म अन्यान्य इन्द्रियोंके विषयका विचार किया है और किस

प्रकार यह सब इन्द्रियें विकाश पाकर यथोचित कार्यमें समर्थ होसकती हैं तथा उनकी सहायतासे किस प्रकार परमात्माके स्वरूपकी प्राप्ति होसकती है इसके उपायका वर्णन किया है।

मीमांसा दर्शनमें, पारलौकिक और व्यावहारिक कर्मकी मीमांसा की है और उनके कारण, स्वरूप तथा फलका भी निर्णय किया है, उस कर्मबन्धनमें ही संसार बँधा हुआ है।

वेदान्तमें ब्रह्ममीमांसा है। अर्थात् आत्माका स्वरूप और जीव जो उस आत्माका अंश है इसका निर्णय करके किस प्रकार कर्मबंधन नहीं होसकता, इसकी वेदांतमें भलेप्रकार मीमांसा की है। फिर जीव किसप्रकार ईश्वरकी मायाशक्तिको जानकर योगबलसे मोक्ष पासकता है, इसका वर्णन किया है।

प्रथम—अध्याय।

एक

पहिले एक अनन्त, अनादि, अव्यय सत् वस्तु ही था वही सब है, उससे ही सब उत्पन्न हुआ है, उसमें ही लय होगा, वह एक और अद्वितीय है (१)

उसमें जो था, है, या होसकता है, वह सब ही है। जैसे समुद्रकी तरंगे उठती हैं तैसे ही यह जगत् प्रपंच भी उस सत् की तरंगें हैं। जैसे समुद्रकी तरंगें फिर समुद्रमें ही मिलजाती हैं तैसे ही यह विश्वप्रपञ्च फिर उसमें ही लीन होजाता है। जैसे समुद्र जलकी राशि है, तरंगें उसका ही रूपमात्र है, तैसेही इस विश्व

(१) सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्, तस्मादसतः सज्जायते।
(छांदोग्य ६। २। १)

प्रपञ्चको भी उसका ही रूपपरिग्रह जानो, क्योंकि-यह सब ही ब्रह्म है। (१)

यही धर्मका चरम सत्य है। मनुष्यने सर्वके बहुतसे नाम रख लिये हैं, सनातनधर्ममें उसका नाम ब्रह्म है। अंग्रेजी भाषा में उस ही का नाम गाड है। अर्थ स्पष्ट करनेके लिये उसीको गाड इन् हिज् आन नेचर(God in his own nature) कहते हैं कभी२ हिन्दु लोगोंने सर्वको निर्गुण ब्रह्मकी उपाधि देकर उसके प्रकाश रूप वा साकाररूपको सगुण नाम रख दिया है। उस समय वह इस चराचर विश्वका महेश्वर है इस लिये धारणाके योग्य होता है।

सगुण और निर्गुण 'सविशेष और निर्विशेष, ब्रह्मके यह दो भाव हैं। यह विषय बड़ा गहन है। बालक यदि इतना ही स्मरण रक्खें तो ठीक होगा कि-सगुण ब्रह्म निर्गुणब्रह्मसे भिन्न नहीं है

यह समस्त जगत् ही ब्रह्ममय है सब ही उससे उत्पन्न हुआ है, उसमें ही लीन होगा शान्त होकर उसकी उपासना करना चाहिये। पुरुष क्रतुमय [अध्यवसाय या भावनायुक्त] है, जो ऐसी भावना करता है, वह इस शरीरको छोड़ने पर ऐसा ही होजाता है इसकारण ध्यान करना चाहिये।

केवल निर्गुणब्रह्मका दूसरा भावमात्र है, वह उस समय सच्चिदानन्द-विग्रह है, वही सत्पुरुष और सबका मूलकारण है। उसको पुरुषोत्तम भी कहते हैं। वह आत्मस्वरूप होकर मूलप्रकृतिको प्रकाशित करता है। प्रकृति ही मूर्त्तिको ग्रहण करती है, उससे ही अनन्तों प्रकारके आकार उत्पन्न होते हैं। जे कुछ इन्द्रियोंसे

(१) सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथाहुः क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुमान् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति क्रतुं कुर्वीत (छान्दोग्य) ३। १४। १

ग्रहण किया जाता है, सब प्रकृतिसे ही उत्पन्न हुआ है आजकल जिनकी पुष्टि नहीं होपाई है ऐसे इन्द्रियोंसे अतीत अनेकों विषय भी प्रकृतिजात हैं रसायनवेत्ताओंके कठिन, तरल और भापरूप सकल पदार्थ भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न हैं। हम इधर उधर जो कुछ देखते हैं पहाड़, पेड़, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि सब ही प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं परन्तु इन सब द्रव्योंके सब ही अंश प्रकृति से उत्पन्न नहीं हुए हैं, क्योंकि उनके प्रत्येक अणुमें ईश्वरका अंश है वह इन्द्रियोंसे नहीं जाना जासकता, हम प्रकृतिसे उत्पन्न होने वाले सब अंशोंको देह शरीर, कोश वा उपाधि कहते हैं। देही उसी आवरणसे आच्छादित होकर प्रकाशरूपको धारण करता है, इस लिये वह सकल वस्तुओंमें प्राणरूपसे वर्त्तमान है। वह अजर अमर आत्मा सकल पदार्थोंमें स्थित होकर उनको चलाता है उसके बिना कुछ ठहर ही नहीं सकता प्रकृतिके आवरणसे आच्छादित हुआ उसका अंश जीव वा जीवात्मा नामसे कहाजाता है।

आत्मा और प्रकृतिके भेदका निर्णय करते हैं मनुष्यकी सकल इन्द्रियोंका पूर्णप्रकाश होनेपर प्रकृतिका स्वरूप जाननेमें आता है परन्तु आत्माके स्वरूपका बोध नहीं होता, प्रकृति ही शरीर धारण करती है, आत्माका रूप नहीं है आत्मा ही चिन्ता करता है, अनुभव करता है और दर्शन करता है वही जीवन है, आत्मा ही अस्मदादिकोंका अहम्भाव है। आत्मा सब पदार्थोंमें एक ही है जैसे जलमें पाँच, घड़ोंको डुबाकर रखने पर पाँचों घड़ोंके भीतर जलके अलग२ आकार धारण कर लेने पर भी सब जल एक है ठीक वैसाका तैसा है प्रकृतिमें चिंता आदि करनेकी शक्ति नहीं है; प्रकृतिमें चेतन पदार्थ नहीं है, जड़में विभक्त होनेकी चेष्टा है, इस लिये आत्मा और प्रकृति ही आदि द्वैतवस्तु हैं। दोनों

परस्पर विपरीत हैं, आत्मा ज्ञाता (जाननेवाला) और प्रकृति ज्ञेय (जानने) योग्य है ।

छात्रोंको यथाशक्ति इस भेदको जाननेका यत्न करना चाहिये और यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिये कि-इस आदि द्वैत-भावसे जगत् उत्पन्न हुआ है ।

आत्मा जैसे सत् चित् और आनन्दस्वरूप हैं तैसे ही प्रकृति भी तमः रजः और सत्त्वगुणमयी है । तमोगुणके कारण प्रकृति की दृढ़ता और प्रतिरोधशक्ति, रजोगुणके कारण गति और सत्त्वगुणके कारण नियमके अधीन होना है । तुम कहोगे कि-पत्थर अपने आप नहीं चल सकता है, परन्तु विज्ञानको पढकर जानसकोगे कि-पत्थरका हरएक परमाणु निरन्तर गमन करने वाला है । वह गति बहुत ही शीघ्रताकी और सुन्दर शृंखलाके साथ है, यह ही विज्ञानका स्पन्दन है । ईश्वरकी जिस शक्तिके बलसे पदार्थ मूर्त्तिको ग्रहण करता है उसका ही नाम माया वा दैवी प्रकृति है भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि मेरी अपर उत्कृष्ट जीव नामक परा प्रकृति, जगत्की जीवनस्वरूप होकर इस जगत् को धारण कर रही है (१)

यह पुरुष और मूलप्रकृति जगत्का आदि द्वैतरूप है । पुरुष प्रकाश और प्रकृति गुणस्वरूप है, दोनोंने एक दूसरेकी परस्पर सहायता करके इस असंख्य मूर्त्तिस्वरूप ब्रह्माण्डको उत्पन्न किया है, यह शक्ति माया है और ईश्वर मायानाथ है ।

सब बालकोंको स्मरण रखना चाहिये कि भगवद्गीताको पढ़ने

(१) भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मेऽपराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥[गी० ७।४-५]

पर यह सब बातें भलीप्रकार मालूम होजाती हैं, और हर एक हिन्दुसन्तानको गीता अवश्य पढ़नी चाहिये। यहाँ यह बता देना भी हम उचित समझते हैं कि-मूलप्रकृतिका और प्रकृति का एक ही अर्थ है।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥ १२॥
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ १३॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेंद्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥ १४॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ १५॥
अविभक्तञ्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥ १६॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्॥ १७॥

[गीता अ० १३]

जो ज्ञेय(जानने योग्य)है उसको अब मैं तुमसे कहूँगा, जिसको जानकर जीव मोक्षपद पाता है, उसको अनादि परब्रह्म जानो उसको न सत् कहा जासकता है न असत् कहाजासकता है१२ सब ही शरीरोंमें उसके हाथ पैर, नेत्र, शिर मुखादि सकल इंद्रियें विराजमान हैं क्योंकि वह सबमें व्याप्त होकर स्थित है॥१३॥ प्राणियोंकी सब इन्द्रियोंके साथ, उसका ताप और लोहेकी समान संबंध होनेसे, जिस २ इन्द्रियकी जो शक्ति वा गुण है वह सब उसमें आरोपित होकर उसको कर्त्ता और इंद्रियोंवाला मानते हैं, परन्तु वास्तवमें वह सब इन्द्रियोंसे रहित और किसी में लिप्त नहीं है, सबका धारण करनेवाला है, सत्त्वादि गुणोंसे

पर है और सब गुण उसके आश्रित हैं ॥१४॥ वह चराचर सब प्राणियोंके भीतर बाहर वास करता है, अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे किसीके जाननेमें नहीं आता है, वह अज्ञानीकी दृष्टिमें दूर है परन्तु ज्ञानी जानता है कि—सब देहमें पुरा है ॥ १५ ॥ वह प्रत्येक प्राणीमें एक और अभिन्न है; परन्तु इन्द्रियादि उपाधियोंके कारण भिन्न २ प्रतीत होता है, वह सबका पालक है, उसके होनेसे ही जगत् है, उसके विना जगत्की उत्पत्ति नहीं होसकती और उसमें ही सब जगत् विलीन होजाता है ।१६। वह सूर्यादि ज्योतियोंको भी प्रकाश देनेवाला परमज्योति है, प्रकृतिसे पर है, ज्ञानस्वरूप और ज्ञेयस्वरूप और जड़ वस्तुओं की सहायतासे ज्ञानके गम्य तथा वही सबके हृदयोंमें विशेषरूप से स्थित है ॥ १७ ॥

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ ५ ॥
ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥ ६ ॥
सोऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥ ७ ॥
(मनु० १ अ०)

पहिले चारों ओर यह घोर अंधकार था,कुछ जाना हुआ नहीं था कोई चिह्न नहीं था, तर्कना नहीं होसकती थी, जाना नहीं जा सकता था मानो चराचर सब सोये हुए थे ।५। तदनन्तर स्वयंभू अव्यक्त भगवान् महाभूतादि चौवीस तत्त्वोंमें प्रवृत्तवीर्य होकर इस संसारके क्रमसे प्रकटित और उस अन्धकाररूप अवस्थाके नाशकरूपसे प्रकाशित हुए ६। जो मनोमात्रग्राह्य,सूक्ष्म सनातन-अचिंत्य अव्यक्त हैं, वही अनादि ईश्वर स्वयं सर्वभूतमय शरीराकारसे प्रकट हुए ॥ ७ ॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

(गीता १० अ०)

हे अर्जुन मैं आत्मरूप होकर सदा सब भूतोंके हृदयमें रहता हूँ । मैं ही सबकी आदि, मध्य और अन्त हूँ ॥ २० ॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥

(गीता १५ अ०)

जगत्में क्षर (विनाशी) और अक्षर (अविनाशी) दो प्रकारके पुरुष हैं । जो स्थूल भूत भौतिक पदार्थ दीखते हैं, यह विनाशी होनेसे क्षर पदार्थ हैं और इन सब भौतिक पदार्थोंकी कारणस्वरूप मायाशक्ति, जो कारणस्वरूपसे सब पदार्थों में स्थित है उसको अक्षर पुरुष कहते हैं ।१६। इन दोनोंसे पृथक् और एक प्रकारका पुरुष है, उसको चैतन्यस्वरूप परमात्मा कहते हैं वह निरंतर इस त्रिलोकीमें पुराहुआ होकर जीवात्मारूपसे शरीर इंद्रियादिके ऊपर प्रभुता करता हुआ त्रिलोकीका पालन कररहा है वह अव्यय और ईश्वर है १७ क्योंकि-मैं (आत्मा) क्षर और अक्षरसे भी अतीत और श्रेष्ठ हूँ. इस कारण लोकमें और वेदमें मुझको (आत्माको) पुरुषोत्तम नामसे कहा है १८

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

जीवलोकमें मेरेही एक अंश सनातनने मायावश जीवरूप

धारण किया है, उसने प्रकृतिके साथ सम्बन्ध होनेसे संसारमें भोगके लिये मन आदि छः इन्द्रियोंका साथ कर लिया है ।७।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३० ॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥
(गीता १० अ०)

सदा सब प्राणियोंमें अविनाशी परमेश्वर समभावमें स्थित है ऐसे भावसे अविनाशी परमेश्वको जो विनाशी पदार्थोंमें देखता है वही आत्माका दर्शन करता है २७ जब इन भिन्न२ प्राणियों को एक आत्मामें स्थित देखता है और एक आत्मासे ही ब्रह्मांड उत्पन्न हुआ है,ऐसा जानलेता है, तब ही जीव ब्रह्मभावको पा जाता है ३०जैसे एकही सूर्य चराचर जगत्को प्रकाशित करता है तैसेही एक आत्मा सकल देहोंमें बसकर उनको प्रकाशित करताहै

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ४ ॥
(गीता ७ अ०)

मुझ चैतन्यस्वरूप आत्मासे विकाशको प्राप्त यह भिन्न २ आकृतिके आठ प्रकारके प्रकृतिपदार्थ हैं, यथा पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन,बुद्धि और अहंकार ॥४॥हे महाबाहो! मेरा ही ६ भिन्न अंश और एक प्रकृति है, वह उस आठ प्रकार की प्रकृतिसे विशुद्ध है, जो कि इस जगत्को धारण किये हुए है उसका जीव नाम जानो ॥ ४ ॥

सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

(गीता १४ अ०)

हे वीर ! प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले सत्व, रज, तम, यह तीन गुण प्रसिद्ध हैं, यही अविनाशी देहीको देहमें बाँधदेते हैं ॥५॥

द्वितीय अध्याय ।

बहुत

ईश्वरने प्रकृतिमें प्रतिबिम्बित होकर उसको अनेकों आकार में परिणत किया। उन सब मूर्त्तियोंका प्रथम प्रकाश त्रिमूर्त्ति है उन तीनों मूर्त्तियोंका प्रकाश इस ब्रह्मांडकी घटनाके लिये हुआ ब्रह्मांड-ब्रह्म-अण्ड, यह ही विश्वकी सुनियन्त्रित अवस्था है। ईश्वरने जिस मूर्त्तिको ग्रहण करके जगत्की सृष्टिकी उसका नाम ब्रह्मा हुआ। जिस मूर्त्तिसे उन्होंने इस जगत्का पालन किया उसका नाम विष्णुमूर्त्ति हुआ। और जब ब्रह्मांड जीर्ण होकर व्यवहारके अयोग्य दशाको प्राप्त होगया, उस समय जिस मूर्त्तिसे उन्होंने इसको लीन करके फिर विकाशके उपायोगी बनाया, वह मूर्त्ति शिव वा महादेव नामसे प्रसिद्ध हुई। शिव प्रलयककर्ता हैं। यह त्रिमूर्त्ति ही ईश्वरका प्रथम प्रकाश है। वह एक अर्थात् सगुण ब्रह्म इन तीन प्रकाशोंमें प्रकाशित है।

ब्रह्माने प्रकृतिको सात तत्त्वरूपसे परिणत किया, उनको महाभूत कहते हैं। पहिले दो के भिन्न २ नाम रक्खेगए हैं हम सुगमताके लिए उनका महत् बुद्धि और अहंकार शब्दसे व्यवहार करसकते हैं। अहंकार विश्लेषण (अलग२ करनेवाली) शक्ति है। इससे प्रकृति अति सूक्ष्म परमाणुरूपमें विभक्त होती है। अन्य पञ्चतत्व क्रमसे आकाश, वायु अग्नि, जल और पृथिवी, नामसे कहे जाते हैं। यह सृष्टि भूतादिसृष्टि नामसे कही

जाती है। इसको ही लेकर सब वस्तुएँ कुछ २ परिणाममें रची गईं, इन सब भूतोंमें सत्व और रजोगुणकी अपेक्षा तमोगुण अधिकताके साथ है। इसीलिए सकल भौतिक पदार्थ प्रधानरूप से जड प्रकृतिमय हैं। जीव इस आवरणको हटाकर सहजमें ही अपनी शक्तिका पूर्णरूपसे प्रकाश करसकता है।

भूतसृष्टिके अनन्तर इन्द्रियोंकी सृष्टि हुई। पहले यह सब ब्रह्माके मनमें भावरूपसे वर्त्तमान था, अन्तमें भौतिक आकार धारण किया। सब इन्द्रियें ज्ञानशक्तिका केन्द्र हैं। चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, और त्वचा, यह क्रमसे दर्शन, घ्राण, शब्द, आस्वादन और स्पर्शका द्वारमात्र हैं। तथा वाक्, पाणि, पाद पायु, और उपस्थ यह पञ्च कर्मेन्द्रियें अर्थात् पाँच प्रकारके अपेक्षा कर्मके द्वार स्वरूप हैं इन सब इन्द्रियोंमें सत्व वा तमोगुणकी अथवा रजोगुणकी ही अधिकता है।

इन्द्रियोंकी सृष्टिके अनन्तर ब्रह्माने अपने मानससे इन्द्रियों के अधिष्ठात्री देवताओंकी तथा मनकी सृष्टि की। मन पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके साथ छटा और दश इन्द्रियोंके अधिपति रूपसे ग्यारहवीं इन्द्रिय गिनाजाता है। इसकी ही सहायतासे बाहरी जगत्की सकल वस्तुओंसे इन्द्रियोंके उपयोगी द्रव्य पसंद और ग्रहण किये जाते हैं। इन सब देवताओंमें और मनमें रजोगुण तथा तमोगुण की अपेक्षा सत्वगुणकी अधिकता है।

छात्रोंको जान रखना चाहिये कि-तीनों गुण परस्पर स्वतन्त्र होकर नहीं रहसकते, किंतु किसी पदार्थमें किसी गुणकी प्रधानता देखनेमें आती है और किसीमें किसीकी। जिसमें तमोगुणकी अधिकता होती है उसको तामसिक कहते हैं, रजोगुणकी अधिकतासे राजसिक और सत्वगुणकी अधिकतासे सात्त्विक कहते हैं, सब ही द्रव्य इन तीनोंमेंसे किसी न किसी विभागमें हैं।

तदनन्तर ब्रह्माके मानससे देवताओंकी उत्पत्ति हुई। उन्होंने

ईश्वरकी विधिके वशीभूत होकर संपूर्ण जगत्की यथोचितरीति से रक्षाकी। एक ईश्वर ही सबका अधीश्वर है, देवता उसके मंत्री हैं। छात्रों! ईश्वर और देवता शब्दके भेदको न भूलना, ब्रह्मा और देवताओंको एक न समझ बैठना। देवता इस ब्रह्मांड को परिचालन करनेके लिये उसके ऊँचे दरजेके कर्मचारी स्वरूप हैं। हम मनुष्य पृथिवी पर उसके ही नीचे दरजेके कर्मचारी हैं

देवताओंका दूसरा नाम सुर है। वह हरएक मनुष्यको कर्मानुसार फल देते हैं। मनुष्योंकी कर्मानुसार उन्नति वा अवनति का भार उनके ही हाथमें है। वह मनुष्योंकी अनेकों उपायोंसे सहायता करते हैं। मनुष्योंके सकल कर्त्तव्य उनकेही प्रति होते हैं उन देवताओंका तिरस्कार होनेपर अकालमृत्यु, पीड़ा, दुर्भिक्षआदि अनेकों दुर्घटनाएं होने लगती हैं देवताओंकी संख्या अनेक हैं।

वह पाँच श्रेणियोंमें होकर पाँच अधिपतियोंके अधीन हैं। वह पाँच अधिपति इन्द्र, वायु अग्नि, वरुण और कुवेर हैं यही पाँचों पञ्चभूतोंके स्वामी हैं, इनमें व्योमपति, वायु–मरुत्पति अग्नि–तेजस्पति, वरुण–जलाधीश और कुवेर–क्षितिपति है। इन पाँच अधिपतियोंके अधीन गुणोंके भिन्न २ नाम इतिहास पुराणोंमें देखनेमें आते हैं। भीमने कुवेरके अनुचर यक्षोंके साथ युद्ध किया था, यह कथा तुमने, महाभारतमें पढ़ी होगी।

ये देवता रजोगुणप्रधान हैं। मनुजीने कर्मको ही इनकी प्रधान प्रकृति कहा है। असुर देवताओंके शत्रु हैं, वह प्रकृति की जड़ता वा बाधकभावकी प्रतिमूर्ति और तमोगुणप्रधान हैं।

तदनन्तर ब्रह्माके मनसे स्थावर, उद्भिज्ज, पशु, पक्षी आदि अन्य सकल जीव और मनुष्योंकी उत्पत्ति हुई। इसप्रकार जीव शक्तिका जिसप्रकार क्रमसे विकाश हुआ, उसका चित्र प्रस्तुत होगया। संस्कृत शास्त्रमें इस जगत्के क्रमविकाशचक्रका संसारचक्र नाम रक्खा है। इस संसारचक्रमें ही सब जीव बँधे हुए हैं।

इसप्रकार ब्रह्माका सृष्टिकार्य समाप्त होगया तबभी इन सब मूर्त्तियोंके भौतिक देहका अभाव था। यह काम विष्णुके करने से ठीक हुआ, वह सबके स्थितिकर्त्ता और रक्षाकर्त्ता हैं, पुराणों में लिखा है कि—उन्होंने प्राणरूपसे सबमें प्रवेश किया, परन्तु इतने हीसे काम न चला, मनुष्यकी उत्पत्ति होनेके अनन्तर ईश्वरकी तीसरी मूर्ति महादेवजीने उनमें अपनी जीवशक्ति डालकर पूर्ण किया। मनुष्य भावात्मक ईश्वरके पूर्ण प्रतिबिम्बरूपसे प्रकाशित हुआ। मनुष्य जीव पहिले २ कल्पमें स्थावर उद्भिज्ज और पशु आदि शरीरोंमें घूमकर इतने दिनोंमें मनुष्य शरीरको ग्रहण करके क्रमविकाशको प्राप्त होने लगा। इस क्रमविकाशका सुन्दर वर्णन ऐतरेय आरण्यकमें है। इस कथा को योग्य छात्र उस ग्रन्थमें तथा उच्चश्रेणीकी पाठ्य सनातनधर्मी पुस्तकोंमें देखेंगे।

विष्णुके विशेष अवतारोंका वर्णन करना भी यहाँ आवश्यक है। अवतार कहनेसे वह अवतीर्ण हुए थे यही समझना होगा किसी विशेष प्रयोजनको साधनेके लिये उनको उस कार्यको साधनेका उपयोगी जो देह धारण करना पड़ता है, वही अवतार नामसे कहाजाता है। जिस समय पृथिवीपर किसी प्रकारकीभी विशृंखलना (गड़बड़ी) होती है और जगत्की उन्नतिका काम ठीक २ चलनेमें किसी प्रकारभी बाधा पड़ती है उसी समय भगवान् मूर्ति धारण करके फिर सुशृंखला स्थापित करदेते हैं।

उनके अवतार असंख्यों हैं, उनमें १० अवतार प्रधान और प्रसिद्ध हैं—

१। मत्स्य—वैवस्वत मनुने एक समय तीर्थमें एक छोटीसी मच्छीको देखकर उसको एक जलके पात्रमें रक्खा। मत्स्यके बढ़जाने पर जब वह उस पात्रमें न समासका तो उसको एक बड़े पात्रमें फिर क्रम २ से बावड़ी, सरोवर, नदी और अन्तमें

सागरमें रखनेपर भी उस मत्स्यने बढ़कर आधारको भरदिया, तब अंतमें मनुने समझा कि-इस मत्स्यका मेरे जीवनसूत्र के साथ सम्बन्ध है। अतएव प्रलयके जलमें बीजकी रक्षा करनेके लिये एक नौका बनाकर ऋषि और सकल जीवोंके बीजको उसमें रखलिया, उस समय उस बड़े भारी मत्स्यने उस नौकाकी रक्षा करते हुए मनुको नए जगत्में स्थापित किया, यही जीवसृष्टिका प्रथम आरम्भ हुआ।

२। कूर्म-विष्णुने कूर्मावतारमें पीठपर मन्दराचलको धारण करके भूतसागरको मथा। उसमेंसे प्रयोजनकी सकल वस्तुएं उत्पन्न हुईं, कूर्मावतार जीवसृष्टिकी दूसरी तरंग है

३। वराह-विष्णुने वराहावतारमें पृथिवीका उद्धार किया यह अवतार स्तन पीनेवाली जीवसृष्टिकी आदि आदर्श है, इस समयसे जीवोंने सूखी भूमिमें बसना आरम्भ किया। नया विज्ञान जो जीवसृष्टिकी तीन तह मानता है वह हिंदूधर्ममें कहे हुए इन तीन अवतारोंमेंसे सूचित होती हैं।

४। नृसिंह-इस अवतारमें भगवान्ने धराको दैत्यके अत्याचारसे मुक्त किया। दैत्यवंशमें एक प्रह्लाद नामक बालक उत्पन्न हुआ था, वह बालक परम विष्णुभक्त था। वह अपने पिताके बहुतसी पीड़ा देनेपर भी भक्तिसे चलायमान नहीं हुआ। जब पिताने उसको बहुतही कष्ट दिया, तब भगवान्ने खम्भ फाड़कर नृसिंह स्वरूपमें प्रकट हो उस दैत्यराजका विनाश किया

५। वामन-अन्तमें उन्होंने वामन मूर्त्ति धार मनुष्यसृष्टिकी सहायता करके बलिसे तीन पग भूमि भीख माँगनेके मिषसे त्रिलोकको लेकर मनुष्यकी उन्नतिके क्षेत्रको निष्कण्टक करदिया

६। परशुराम-भगवान्ने परशुराम अवतारमें दुर्दांत क्षत्रियोंको दण्ड देकर उनको यह शिक्षा दी थी कि-यदि अत्याचारी अपनी शक्तिका दुर्व्यवहार करे तो उसका मंगल नहीं होता है।

७। श्रीराम-भगवानने दशरथकुमार श्रीरामचन्द्ररूपसे अवतीर्ण होकर तीनों भ्राताओंके साथ क्षत्रियोंके और राजाओं के आदर्श स्वरूपमें अपना प्रकाश किया था। वह पूर्ण मनुष्यके दृष्टान्तरूपसे विराजमान थे। श्रेष्ठ सन्तान, श्रेष्ठ पति, श्रेष्ठभ्राता श्रेठ वीर और श्रेष्ठ नृपति रूपसे वह प्रजापालकरूपमें वर्त्तमान थे, अतः वह मनुष्य जीवनके पूर्ण आदर्श हुए। वाल्मीकि रामायणमें उनकी जीवनी चारुरूपसे गाई गई है। तुलसीदास जीकी हिन्दीभाषाकी रामायण उत्तर पश्चिम भागमें और कृत्तिवासकी बंगभाषाकी रामायण बंगालके घर २ में राममहात्म्य का प्रचार करती है।

८। श्रीकृष्ण-यह भगवान्‌का ८ मावतार है। वह इस मूर्त्तिमें असंख्यों भारतवासियोंके पूज्य हुए। ब्रजमें और वृन्दावनमें वह अद्भुत बालकरूपधारी, अर्जुनके सखा, पाण्डवोंके मन्त्री और भीष्मके परम आराध्य हुए। भारतवर्षमें ऐसा कोई बालक भी नहीं होगा जो श्रीकृष्णकी कथाको न जानता हो। वह महाभारत ग्रंथके मध्यमणि हैं। अनेकों पुराणोंमें उनकी जीवनी सुन्दररूपसे वर्णित है।

९। बुद्ध—इस अवतारमें राजपुत्र होकर भी उन्होंने राजसिंहासन और सुखसम्पदाको त्यागकर भिक्षुक वेशमें धर्मका प्रचार करतेहुए देश २ में भ्रमण किया था। उनका परिचय शाक्यमुनि, गौतम और सिद्धार्थ नामसे मिलता है। बौद्ध धर्म के वह आदिप्रचारक हुए। आज भी करोड़ों मनुष्य इस धर्मके अनुयायी हैं इसरूपमें भगवान्‌ने, बहुतसी अनार्यजातियोंको धर्ममार्गमें प्रवृत्त किया था।

१०। कल्कि-भगवान् कल्कि अवतार धार कर कलियुगका समाधान करेंगे। उनके आगमनके अनन्तर फिर सत्ययुगके साथ नए महायुगका प्रारम्भ होगा।

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थं ऋषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ।
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥

(गीता ११ अ०)

हे देव ! आपके देहमें सकल देवताओंको असंख्यों प्राणियों को दिव्य ऋषियोंको, नागोंको, महादेवको, कमलासन पर विराजमान ब्रह्माजीको देख रहा हूँ ॥ १५ ॥ रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुत्‌गण ऊष्मपा आदि पितर, गन्धर्व यक्ष सुर और सिद्ध; यह सब ही विस्मित होकर आपकी ओरको देख रहे हैं ॥ २२ ॥

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमो मातरिश्वानमाहुः ॥

ऋक् १ । ६४ । ४६

इन्द्र, मित्र, वरुण अग्नि सब उसको ही कहते हैं, वह सुपर्णपक्ष धारी गरुत्मान् है । इसप्रकार मुनिजन अनेकों प्रकारसे उसका मातरिश्वा, अग्नि और यम आदि वाक्योंसे गान करते हैं ॥

आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ॥ ११९ ॥
एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १२३ ॥

(मनु १२ अ०)

निःसन्देह सकल देवता आत्मस्वरूप हैं और सब आत्मामें स्थित हैं ॥११९॥ कोई उसको अग्नि कहता है, कोई मनु प्रजापति कहता है, कोई इन्द्र कोई प्राण और कोई शाश्वत ब्रह्म कहता है । वास्तवमें उस एकने ही बहुतसे रूप धारण किये हैं ॥१२३॥

यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाक्षराद्विविधाः सौम्य भावाः प्रजायंते तत्र चैवापियांति ॥

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेंद्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी ॥
तस्माद्धि देवा बहुधा संप्रसूताः ।
साध्या मनुष्या पशवो वयांसि ॥

(मुण्डकोपनिषत् २।१। १-७)

जैसे प्रज्वलित अग्निमेंसे एकसी सहस्रों चिनगारियें निकलती हैं, तैसे ही, अक्षर परमात्मासे असंख्यों भाव प्रकट होते हैं और फिर उसीमें लीन होजाते हैं ॥ उसी अक्षरसे प्राण, मन, सकल इंद्रियें, आकाश, वायु, ज्योति, जलतत्त्व और विश्वके धारण करनेवाली धरित्री उत्पन्न होती है ॥ उससे ही देवता सिद्ध मनुष्य और पशु, पक्षी अनेकों आकारोंको धारण करते हैं ॥

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥
ऊर्ध्वं गच्छंति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसः ॥ १८ ॥

(गीता १५ अ०)

सत्त्वगुणसे ज्ञान और रजोगुणसे लोभ उत्पन्न होता है तथा तमोगुणसे प्रमाद और अज्ञान उत्पन्न होता है ॥ १७ ॥ सत्त्वगुणी मरणके अनन्तर ऊपर देवलोकमें जाते हैं, रजोगुणी प्रकृतिके मध्यमें विचरते हैं और जो तमोगुणी नीच प्रवृत्तिमें रहते हैं वह मरकर पशुयोनिमें जन्म लेते हैं ॥ १८ ॥

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥ ९ ॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।

रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥
(गीता १४ अ०)

हे अर्जुन! सत्त्वगुण सुखसे मेल कराता है रजोगुण कर्म बंधन में डालता है और तमोगुण ज्ञानशक्तिको ढककर देहीको प्रमादमें बाँधकर ढकेलदेता है ९ हे भारत ! कभी रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण विशेषरूपसे प्रकट होता है / कभी सत्त्व और तमोगुणको दबाकर रजोगुण सबसे अधिक बढ जाता है और कभी सत्त्व और रजको दबाकर तमोगुण प्रबल होउठता है ॥१०॥ जिस समय इस शरीरमें सब द्वारोंमें ज्ञानमय प्रकाश का दर्शन हो, उस समय सत्त्वगुणको बढाहुआ जानो ॥११॥ हे अर्जुन ! जिस समय देहमें प्रवृत्ति, अशान्ति और लोभका उदय हो, कर्मका आरम्भ हो और इच्छा उत्पन्न हो, उस समय रजोगुणकी वृद्धि हुई जानो ॥१२॥ जिस समय प्रकाशका नाश हो, उद्यमका अभाव हो, झूठी बातें सच्ची मालूम हों, प्रमाद हो और सदा झूठी बातोंमें मन लगे, उस समय तमोगुणको बढ़ा हुआ जानो ॥ १३ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ८ ॥
(गीता ४ अ०)

हे अर्जुन ! जिस समय धर्मकी हानि होती है और अधर्म बढ़ता है तभी मैं अपनेको सृजता हूँ अर्थात् अवतार धारण करता हूँ ॥ ७ ॥ मैं युग२ में धर्मके कारण अवतार धारकर दुष्टोंका नाश और साधुओंकी रक्षा करता हूँ ।

तृतीय अध्याय।

पुनर्जन्मतत्त्व

पहिले अध्यायमें क्रमोन्नतिकी बात कहचुके हैं। जीवात्मा एक देहसे अन्य देहमें घूमता हुआ क्रमोन्नति पाता है, इस अन्य देहमें जानेका वा भ्रमणके व्यापारका ही दूसरा नाम पुनर्जन्म है। फिर स्थूल पञ्चभूतात्मक देहको ग्रहण किया जाता है, इसकारण पुनर्जन्म कहते हैं। यह पुनर्जन्म क्या रहस्य है? उसकी कुछ आलोचना करते हैं।

जीव ब्रह्मका अंश है। भगवान् गीतामें कहगए हैं-

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

जीवमें सकल ब्रह्मशक्तियें वर्त्तमान हैं, अतएव जीव ब्रह्म है वेद कहता-"तत्त्वमसि" तू ही वह ब्रह्म है। परन्तु तो भी देश-कालके कारण भेद है। बीज वृक्षका अंश होनेपर भी, वृक्ष होने की शक्ति रखने पर भी, बीजदशामें वह बीज ही है, वृक्ष नहीं है। बीजने वृक्षको उत्पन्न किया है। बीजमें वृक्षकी प्रकृति और शक्ति प्रच्छन्नरूपसे वर्त्तमान है। वृक्षसे बीज अलग होकर धीरे२ बढ़ता है और क्रमसे अपनी गुप्त शक्तियोंका प्रकाश करता है, अन्तमें अपने जनकके तुल्य वृक्षरूपसे परिणत होता है। बीजमें और कुछ होनेकी शक्ति नहीं है। क्यों कि—उसमें जनकका स्वभाव प्रच्छन्नरूपसे वर्त्तमान है। जीवके विषयमें भी यही बात कही जासकती है। जीव ईश्वरसे, बीजकी समान प्रकृतिक्षेत्रमें पड़ने पर क्रम२ से बढ़कर, प्रच्छन्न शक्तियोंका प्रकाश करते २ क्रमसे ईश्वरत्वको ही पाजायगा। वह अन्य कुछ हो ही नहीं सकता उसमें अपने जनकके सकल गुण प्रच्छन्नरूपसे स्थित हैं।

ईश्वर ज्ञानमय और सर्वशक्तिमान् है, परन्तु जीव अज्ञ तथा

शक्तिहीन है। श्वेताश्वतरोपनिषद्में लिखा है—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता ।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्त्ता त्रयं यदा विंदते ब्रह्ममेतत् ॥

वह शक्तिहीन और अज्ञ जीव, क्रमविकाशके वश ज्ञान और शक्तिकी वृद्धिके द्वारा क्रमसे स्वरूपलाभ करेगा।

पीछे कहचुके हैं कि–जीव भौतिक आवरणसे आच्छन्न हो कर सबसे पहले स्थूल जगत्में प्रवेश करता है। उस समय बाह्य जगत्के विषयमें उसको कुछ ज्ञान नहीं होता है। बाह्य जगत्के घटनाचक्रसे पीड़ित होने पर क्रमसे उसका वह ज्ञान और तदनन्तर उसके अपने अस्तित्वका ज्ञान उद्दीप्त होने लगता है भूकंप ज्वालामुखी पहाड़ोंका प्रस्रवण, आदि भयंकर बाह्य जगत्की शक्तियोंकी टक्करोंसे जीवका क्रमसे बाहरी ज्ञान उद्दीप्त होता है, क्रमसे जीव समझता है कि–वह अकेला नहीं है बाहर और भी अनक हैं। पाठक भूमण्डलकी प्रथमावस्थाके इतिहासको पढ़ने पर देखेंगे कि–उस समय इसप्रकारकी भयानक घटनाओं की बहुत अधिकता थी, क्योंकि उस समय बालक–आत्माको चितौनी देनेके लिये इन सब घटनाओंका प्रयोजन था। बहुत समय तक ऐसे घात प्रतिघातोंकी सहायतासे जीव कुछ प्रबुद्ध होकर क्रमशः धातुसे कोमल देह पानेका उपयोगी हुआ और उद्भिद देहको धारण किया तथा ईश्वरसे धारावाहिक क्रमसे आये हुए नए जीवात्माने धातुजगत्में उसके स्थान पर अधिकार जमाया।

तदनन्तर उद्भिद देहमें स्थित जीवात्मा बार२बाहरी जगत्के संसर्गसे अधिकतर प्रबुद्ध होकर तीक्ष्ण सूर्यकी किरणें, मधुर मंद पवन, अतिचिक्कण जलपतनका अनुभव करते २ कुछ अधिक बाहरी ज्ञान पाकर क्रमसे कुछ और दीर्घजीवी गुल्म लता आदि

का आश्रय करके अधिकतर शक्तिका विकाश करनेलगा अंतमें ऐसे क्रमविकाशके द्वारा प्राणि जगत्में प्रवेश करनेका उपयोगी होनेपर उद्भिद्रूपी जीवात्माने प्राणीका शरीर पाया, धातुराज्य से नए जीवने आकर उद्भिद्-राज्यमें उसके स्थान पर अधिकार कर लिया और ईश्वरसे नए जीवात्माने आकर धातुदेहको ग्रहण कर पूर्वोक्त जीवात्माओंके छोड़ेहुए स्थानोंपर अधिकार जमाया।

प्राणिशरीरको पाने पर जीवात्माके विकाशका काम बहुत शीघ्र होने लगता है। उसके लिये कलहवृत्तिको चरितार्थ करनेके लिये परस्परके युद्ध और बुद्धिके द्वारा तिरस्कार करने की चेष्टामें उनकी इन्द्रियशक्ति और सामान्य मानसिक शक्तिकी उत्तरोत्तर स्फूर्ति होती है। अन्तमें पशुशरीर उनके क्रमविनाश का अनुपयोगी होजाता है, तब मनुष्यशरीरको पाकर वह क्रम-विकाशकी उच्च सीढी पर चढते हैं।

पाठक जिज्ञासा करसकते हैं कि—'किसप्रकार निर्भिन्न देह' जीवकी अपनी शक्तिके अनुरूप होता है? इसका उत्तर यह है कि-जीवकी अपनी आन्तरिक चेष्टा ही इसका कारण है। जिस भौतिक आवरणसे ढकाहुआ है, उसको हटाकर वह, जो विषय अधीन नहीं हैं, उनको अपने वशमें करता है। देखनेकी इच्छा होनेपर बहिर्मुखी दृष्टिशक्ति बाहरके आवरणको धीरे२ भेदकर चक्षुगोलकको निर्भिन्न करती है, और२ इन्द्रियोंका विकाश भी इसी प्रकार होता है। सकल इन्द्रियें जीवकी बहिर्मुख प्रवृत्तिके वशमें हो भीतरसे बाहर आकर प्रकाशित होती हैं। इन्द्रियोंके अधिष्ठात्री देवता अपने देहमें स्थित और तिन २ कार्योंके उप-योगी तत्त्व देकर तिन कार्योंमें सहायता करते हैं। जिस समय देखनेकी प्रबल इच्छा होती है, उस समय अग्नि उसको अपना आग्नेय तत्त्व अधिकताके साथ देता है, तब वह आलोकरश्मि

का प्रकम्पन होने पर प्रकम्पित होसकता है और उसमें दर्शनके ज्ञानकी उपयोगी बाहरकी इन्द्रिय उत्पन्न होती है। स्वाद लेनेकी इच्छा जन्मने पर वरुणदेव, अपने जलतत्त्वमेंसे जलीय उपादान देकर स्वाद ग्रहण करनेमें उपयोगी बाह्य इन्द्रियको उत्पन्न करते हैं,ऐसे ही उसका देह क्रमसे इच्छा और प्रयोजनके अनुसार गठित हो जाता है। जब एक देह क्रमोन्नतिके अनुपयोगी होजाता है तब जीवात्मा उस देहको त्यागकर अन्य देहको ग्रहण कर लेता है उसका विकाश क्रम २ से बहुत शीघ्र सिद्ध होने लगता है। क्योंकि-सकल प्रच्छन्न शक्तियें जितनी अधिक स्वाधीनभावसे कार्य करनेमें उपयोगी होती है, उतना ही जीव इन्द्रियोंकी पटुताके कारण शीघ्र २ अभीष्ट फल पाकर बहुत ही शीघ्र प्रबुद्ध होजाता है,यह ही क्रमविकाशका साधारण नियम है।

पाठक जिसमें पुनर्जन्मका मूलतत्त्व सहजमें समझ सकें इस आशासे क्रमविकाशके दरजे स्थूलरूपसे ऊपर कह दिये,वास्तव में क्रमविकाशका तत्त्व इसकी अपेक्षा बहुत ही गहन है और जीवकी क्रमोन्नतिमूलक संसारवृक्षकी अनेकों शाखाओंसे युक्त तथा अनन्त है। क्रमोन्नतिमार्गके विशिष्टसोपानसे भी जीवके गिर जानेकी सम्भावना है और कभी २ उसको बहुत दिनों तव एक अवस्थामें रहना भी पड़ता है। किसी शक्तिका विकाश नहीं हुआ है या कुछ सीखनेको शेष है,उस शक्ति वा उस ज्ञान को पानेके लिये उसको फिर, स्कूलमें वेगनसे जानेवाले छात्र की समान नीचेके दरजेमें उतरकर आना पड़सकता है। इस प्रकार मनुष्यको पशुदेह वा उद्भिददेह, यहाँ तक कि-अत्यन्त तामसिक स्वभाव होने पर पत्थरका शरीर भी धारण करना पड़ता है। पहिले मनुष्यदेहका ठीक २ व्यवहार न करनेके कारण उस नीच शरीरमें कुछ दिनों जेलखाने में बन्द रह कर जीवात्माको भविष्यत्में मनुष्य देहके यथोचित व्यवहारको

आवश्यकता मालूम होती है। उच्च शक्तिवाला जीवात्मा, नीच विकाशके उपयोगी देहमें बँधकर, इस देहबन्धनको कारागारमें बसनेके तुल्य समझने लगता है। उस समय स्वाधीनता न होनेसे, मानवशक्तिका विकाश करनेकी उपाधि न होनेसे उसको बड़ा ही कष्ट होता है।

परन्तु जीव चिरकाल तक इस जन्म मरणके चक्रमें बँधा न रहेगा, केवल वासनारूपी रज्जुके द्वारा इस चक्रमें बँधा हुआ है जब तक पार्थिव वासना रहेगी तबतक भूतल पर आना जाना बन्द नहीं होगा, परंतु वासनाका नाश होने पर फिर बन्धन नहीं रहता है, तब ही जीव मुक्ति पाता है। फिर जन्म लेनेका प्रयोजन नहीं रहता, क्योंकि उस समय वह मुक्त जीव है।

प्रायः मुक्तात्मा जन दूसरोंको मोक्ष प्राप्त होनेमें सहायता करनेके लिए (कर्मवश नहीं) इस जगत्में देह धारण करते हैं। ऐसे ही मुक्तात्माओंका विवरण हम पुराण इतिहास आदि में पाते हैं। वह कहीं ऋषि कहीं राजा और कहीं साधारण मनुष्यरूपसे होते हैं। परंतु बाहरी मूर्त्तिमें चाहे सो क्यों न हो, वास्तवमें वह परमपवित्र, निःस्वार्थ और शांत होते हैं। उनका जीवन केवल लोकहितके लिए ही होता है, वह जगत्के लिए अपने जीवनको बिताकर ही संतुष्ट होते हैं क्योंकि-बस ईश्वर के साथ अभिन्नभावको पाजाते हैं।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहांतरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ १३॥
(गीता २ अ०)

देहीके इस देहमें जैसे बालकपन, जवानी और फिर बुढ़ापा आजाता है, तैसे ही निःसन्देह दूसरे शरीरकी प्राप्ति है, बुद्धिमान् उस देहके बदलनेमें दुःख नहीं मानता है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत ॥ १८॥
य एनं वेत्ति हंतारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हंति न हन्यते॥ १६ ॥
न जायते म्रियते वा कदाचि -
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हंति कम् ॥ २१ ॥
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ २२ ॥
(गीता २ अ०)

अविनाशी अप्रमेय नित्य स्वरूप देहीके ये शरीर नाशवान् हैं, इसलिए हे अर्जुन ! मिथ्या मोहको छोड़कर युद्ध कर ॥ १८॥ जो इसको मारने वाला जानता है और जो इसको मरा हुआ मानता है, यह दोनों नहीं समझते, वास्तवमें न वह मारता है, न माराजाता है ॥ १६ ॥ न उसका जन्म है, न मरण है, न यह उत्पन्न होनेपर अस्तित्व पाता है, क्योंकि यह तो निःसन्देह अज, नित्य, पुरातन और शाश्वत है, अतः शरीर का नाश होनेपर इसका नाश नहीं होता है । २० । हे पार्थ ! जो उसको अविनाशी, अज, अव्यय जानता है वह पुरुष कैसे मारता है ? किसको मारता है और किसको मरवाता है? ।२१। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको उतारकर नए और वस्त्र धारणकर लेता है, तैसे ही देही जीर्ण शरीरको छोड़कर और नया शरीर धारण करता है ।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि। ३०।

(गीता २ अ०)

हे अर्जुन! सबके देहमें यह देही नित्य अवध्य है, इसलिए सकल प्राणियोंमें किसीका भी तुमको शोक न करना चाहिये ३०

तद्यथा पेशस्कारो पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं। कल्याणतरं रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्या-विद्यां गमयित्वान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते ॥

(बृहदारण्यक ४।४।४)

जैसे सुनार सोनेका टुकड़ा लेकर उसको और ही आकारका बना देता है,नया रूप देकर उसका आकार करदेता है,तैसे ही आत्मा इस देहको त्याग अविद्याका नाश करके सुन्दर रूप धार नए देहका आश्रय करता है ॥ ८ ॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ ११ ॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शांतिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥

(गीता ५ अ०)

जो पुरुष आसक्ति छोड़ ब्रह्ममें अर्पण करके कर्म करता है वह, जैसे कमलका पत्ता जलसे लिप्त नहीं होता तैसे पापसे लिप्त नहीं होता है ॥१०॥ योगिजन आसक्तिको छोड़कर मनः-शुद्धिके लिए शरीर, मन, बुद्धि लगाकर इन्द्रियोंकी सहायता से कर्म करते हैं ।११॥ युक्त पुरुष कर्मफलमें आसक्तिको त्याग कर कर्म करके नैष्ठिकी शांति पाता है और अयुक्त पुरुष अपनी कामनाके कारण आसक्ति करके कर्मफाँसी में बँधजाता है १२

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥
न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥ २० ॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विंदत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ २१ ॥

विद्या विनयसे युक्त ब्राह्मण, गौ हाथी कुत्ता और चाण्डाल को ज्ञानी पुरुष एक समान देखते हैं ॥१८॥ जिसका मन साम्य में स्थित है, उनको संसारमें ही संसारका जीतनेवाला जानो, ब्रह्म सकल स्थानोंमें निर्दोष और समान है अतः वह बुद्धिमान् ब्रह्म में स्थित हैं ॥ १९ ॥ ब्रह्मज्ञानी, ब्रह्ममें स्थित स्थिर बुद्धि, और सदा मोहरहित है। वह पुरुष, प्रिय वस्तुको पाकर प्रसन्न नहीं होता और अप्रिय वस्तुको पाकर खिन्न नहीं होता ॥ २० ॥ जिसका मन बाहरी विषयों में आसक्त नहीं है, जो आत्मामें शांति सुख पाता है,वह भाग्यवान् ब्रह्मयोगयुक्त होकर अक्षय सुखमें मग्न होता है ॥ २१ ॥

योऽन्तःसुखोऽन्तराराामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ २५ ॥
कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥

जिसको आत्मामें ही सुख है, आत्मामें ही आराम है और आत्मामें ही दृष्टि है वह योगी ब्रह्मस्वरूप होकर ब्रह्मनिर्वाण पाता है ॥ २४ ॥ जिनके पाप नष्ट होगए हैं, जिनको संशय नहीं है,

जिन्होंने चित्तकी वृत्तियोंको वशमें करलिया है, और जो सकल प्राणियोंका हित करनेमें तत्पर रहते हैं वे ऋषि ब्रह्मनिर्वाणको प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥ काम क्रोधसे मुक्त, चित्तको वशमें करने वाले, आत्मज्ञानी यतियोंके चारों ओर ब्रह्मनिर्वाण है अर्थात् मोक्ष पास ही है, उनके लिए जीना क्या और मरना क्या।२६

चतुर्थ अध्याय

कर्मफलतत्त्व

जो वर्त्तमानमें किया जाता है, उसके साथ भविष्यके फलका जो निर्दिष्ट और विशिष्ट सम्बन्ध है, यह ही कर्मका अर्थ है। कोई भी बात अकस्मात् या अकारण नहीं होती सबका कुछ न कुछ कारण होता है। वह नियमित रूपसे यथाक्रम हुआ करती है

एक बीजको बोने पर वह अंकुरित होकर एक दंडीको उत्पन्न करता है, उसमें पत्ते उगते हैं, तदनन्तर फूल लगते हैं, फिर फल आता है और फलसे फिर बीज उत्पन्न होता है। उस बीजसे फिर पहिलेके समान दंडी, पत्ते, फूल, फल और बीज उत्पन्न होते हैं। जिस वृक्षका जो बीज होता है, उससे वह ही वृक्ष उत्पन्न होता है। धान्यसे धान्यकी और जौसे जौकी उत्पत्ति होती है। गेहूँसे गेहूँ और बबूलसे बबूल ही उत्पन्न होता है। कोई बबूल बोकर उस से मधुर दाखें पैदा होनेकी आशा नहीं करसकता, यही कर्मफल है। यह जानकर मनुष्यको अभिलाषाके अनुकूल ही बीज बोना चाहिये, कर्मका यह नियम साधारण रूपसे सबको ही स्मरण रखना चाहिये।

कर्मतत्त्व मनमें जितना सहज मालूम होता है, उतना सहज नहीं है। यदि मैं किसीसे बूझूँ कि–आप बाजारमें क्यों गए थे, तो वह कहैगा कि–"मुझको एक जोड़ा खड़ाऊँ चाहिये थीं और

मनमें आया कि तहाँ मिलजायँगी, अथवा यह कहेगा, कि मुझको एक मित्रसे मिलना था, और मनमें आया कि–वह तहाँ मिलेगा इसप्रकार सब ही कार्योंका एक न एक प्रयोजन और मनन वा संकल्प देखनेमें आता है। क्रिया, मनन और प्रयोजन सदा एक ही सूत्रमें गुथे होते हैं।

इस प्रयोजनका नाम वासना है, पहिले हम वासना करते हैं, यह कर्मकी प्रथम अवस्था है, फिर संकल्प करते हैं, कि–किस प्रकार यह वासना सिद्ध होगी ? यह दूसरी अवस्था है। अंतमें अभीष्ट लाभके लिए कार्य करते हैं, यही कर्मकी तीसरी अवस्था है। यही कर्मका क्रम है। हरएक कार्यके पीछे संकल्प और वासना लगे हुए हैं और हर एक संकल्पके पीछे वासना लगीहुई है

कर्म, संकल्प और वासना ये तीन कर्मरज्जुके सूत्र हैं, वे तीनों मिलकर कर्मरज्जु कहलाती है, हमारे कर्मके द्वारा हमारे निकट सम्बन्धी सुखी या दुःखी होते हैं। यदि सुखी हों तो मैंने सुखका बीज बोया था, उससे अवश्य ही मुझको सुख होगा और यदि दुःखका बीज बोया है तो निःसन्देह दुःख होगा। यदि निष्ठुरताके काम करते हैं, तो निष्ठुरताका बीज बोदिया, उसके फलसे हमारे भोगमें निष्ठुरता ही प्राप्त होगी, तैसे ही दया का बीज बोने पर दया मिलेगी, इसमें सन्देह नहीं है, जैसे बीज बोया जायगा, उसका ही फल हमको भोगना पड़ेगा, यह ही कर्मफल है।

परन्तु पहिले बता चुके हैंकि–हरएक कर्मके पीछे संकल्प लगा हुआ है जैसेक्रियासे सुख दुःख रूप फल मिलता है, तैसे ही उस संकल्पके कारण हमारा चरित्र गठित होता है। चरित्रमें ही हमारे मनका अवस्थाका वा प्रकृतिका विकाश है। हम जिस विषयकी बहुतसी चिंता करते हैं हमारे मनकी तैसी ही दशा हो जाती है, केवल दयाके व्यापारका विचार करनेपर हम निःसंदेह

दयालु होंगे, क्रूरकर्मकी चिंता करनेपर हमारा स्वभाव क्रूरताका ही होजायगा रात दिन धोखेबाजीका ध्यान करनेपर हम अवश्य ही धोखेबाज होजायँगे, श्रेष्ठ चिन्तवनका फल साधुभाव ही है। इसप्रकार संकल्पसे ही चरित्र गठित होता है, इस जन्ममें जैसी चिन्ता करते हैं पुनर्जन्मके समय हमारा चरित्र निःसंदेह उसके अनुसार ही गठित होगा। हम अपने स्वभावके अनुसार ही कार्य करते हैं। दयालु पुरुष ही दयाका काम करते हैं क्रूर पुरुषोंके काम क्रूरतासे ही भरे होते हैं, इसलिए हमारे वर्त्तमान जीवनके संकल्पसे ही, दूसरे जन्मके चरित्र और घटनाए संघटित होते हैं, इसमें संदेह नहीं है। यह ही कर्म है।

संकल्पके मूलमें ही वासना है वासनाके कारण ही हम अभीष्ट वस्तु पाते हैं, जैसे चुम्बक लोहेको खेंचता है, तैसे ही कामना अभीष्ट वस्तुको खेंचती है। धनकी इच्छा करनेपर जन्मांतरमें धनवान् होनेका सुयोग पाया जाता है। ज्ञानकी कामना करनेपर जन्मांतरमें ज्ञानवान् होनेका सुयोग होता है। प्रेमकी अभिलाषा होनेपर जन्मांतरमें प्रेमालाप होसकता है। शक्ति पानेकी वासना होनेपर जन्मांतरमें शक्तिमान् होसकता है यह ही कर्मफल है (१)

(१) पहिले ही कहचुके हैं कि कर्मफलका तत्त्व बड़ा दुर्बोध है और यही सृष्टिकी मूलनीति या आदितत्त्व है। सृष्टिमें जगत्‌के सकल ही तत्त्व इस आदितत्त्वके ऊपर स्थित है, क्योंकि विश्वरचना वा विश्वकल्पना ही सृष्टिका आदिकर्म हैं। अतएव सृष्टिकी आदिसे अंततक सबही इस कर्म तत्वके ऊपर प्रतिष्ठित हैं, आज कल विज्ञानके अनुशीलनके घमण्डी, अदूरदर्शी, अपनेही मतके मतवाले, अंग्रेजी पढ़े नौजवान कर्मफलकी बात सुनते ही चौकन्ने होजाते हैं, यह विचार-हीन नवयुवक कर्मफलके विषयमें अपनी अश्रद्धाकी बात चाहे जितनी दृढ़ताके साथ सिद्-

छात्रोंको यह कठिन विषय वार २ भावना करके हृदयङ्गम करलेना चाहिये, इसको ठीक २ बिना समझे कर्म बाहुल्यका कठिन भाग समझमें नहीं आसकता, कर्मफलके विषयमें एक बातमें यही कहा जासकता है कि—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

जैसा बीज बोया जाता है फल भी तैसा ही होता है। यहाँ पाठक यह जिज्ञासा करसकते हैं कि—यदि हमारा वर्त्तमान कर्म

करनेकी चेष्टा करें, परन्तु जरा विचारके साथ देखतेही वह समझ सकेंगे कि—कर्मवादमें उनका स्वाभाविक विश्वास हुए बिना क्षण-मात्रको भी जीवन धारण नहीं करसकते, जो कर्म जिस फलमें परिणत होता है, उसमें उनका ज्ञान वा विश्वास न होता तो वह कभी भी उस कर्मको नहीं करते। अन्न भक्षणरूप क्रियाके द्वारा क्षुधाकी निवृत्ति होती है, इस बातको यदि वह नहीं जानते और भोजनका फल क्षुधाकी निवृत्ति है, इसका यदि उनको विश्वास नहीं होता तो भूखे होनेपर भी वह भोजन करनेमें प्रवृत्त नहीं होते। जल होनेपर उस जलसे प्यास दूर होजाती है; इसका उनको यदि विश्वास न होता तो प्यासे होनेपर भी कभी वह जलकी चाहना नहीं करते। आपको यदि विश्वास न होता कि—आमके बीजसे आमका वृक्ष उत्पन्न होता है अथवा यदि आपको विश्वास होता कि—आमके बीजसे चाहे सो वृक्ष उत्पन्न होसकता है तो आप आमका बीज कभी नहीं बोते फलकी चाहनावाला पुरुष प्रतिक्षण फलकी चेष्टाके सब ही कामोंमें रत रहता है। कर्मफलके साथ जिनके जीवनकी प्रत्येक चिन्ता, स्मृति, उक्ति और क्रिया इसप्रकार घनिष्ठभावसे जड़ी हुई है, नहीं मालूम वे किस प्रकार पागलकी समान कर्मफल-बादका विरोध करते हैं।

पिछले जन्मके संकल्पका फल है और पिछले जन्मके सब संकल्प व्यतीत वासनाओंका फल है, तब तो जीव असहाय रूपसे बँधाहुआ है। व्यतीत जन्मके संकल्पानुसार ही तो हम कर्म करने को लाचार हैं, पिछले किसी जन्मकी वासनाओंके अनुसार हमारे संकल्पोंका उदय होगा ही। यह बात ठीक है, परंतु इसकी भी एक सीमा है, क्योंकि-ज्ञानकी वृद्धिके साथ २ हमारा परिवर्त्तन होता चला जारहा है। उत्तरोत्तर ज्ञान पानेके साथ२ही जीव अपनी वासनाओंको बदलता जाता है। इस लिए यह बात कहसकते हैं कि-पहिले जन्मोंमें हमने जैसे भावकी वासना संकल्प और कर्म किये थे, उससे अन्य भावकी वासना संकल्प और कर्म भी तो करसकते थे,अब भी चेष्टा करनेसे उनकी गति पलटी जासकती है और ज्ञानके बलसे उनके फलके अस्तित्वको समझते ही,यत्न करके उनका पलट देना असम्भव नहीं है।

मानलो, किसीने समझपाया कि-मैंने कोई निर्दयीपनेका काम किया है, और साथ २ यह भी समझ पाया कि-वह निर्दयीपनेका काम किसी अतीत निर्दयीपनेकी चिन्तासे उत्पन्न हुआ है और वह चिंताभी किसी विषयकी वासनाका फलथी,उस वासनाकी चरितार्थता निर्दयीपनेके बिना हो ही नहीं सकती, उस ने जानलिया कि-उस कार्यके फलसे ही लोकमें कष्ट पारहा हूँ और उसीके कारण लोग मुझसे घिनियाकर बचते हैं और इसी कारण कोई मेरा साथी नहीं है तथा दुःख पारहा हूँ। यह सब सिलसिला विचारकर उसने अपने स्वभावको पलटनेका संकल्प किया। परतु उसका अपने पहिले संकल्प आदिके कारण बने हुए मनके भावको पलटदेना कोई सहज नहीं है, अभ्यास की शक्ति बडी ही प्रबल है। उस समय उसने सकल अशान्तियों की मूल जो वासना, जिस वासनासे उत्पन्न हुई वस्तुको पाने

के लिये निष्ठुरता दिखानेके सिवाय दूसरा उपाय ही नहीं है उस ही वासनाको दूर करनेकी चेष्टा की, उस समय वह जीव अपने आप ही कहने लगा कि—अब मैं इन सब विषयोंकी वासना नहीं रक्खूंगा, क्योंकि निर्दयताके विना वह सिद्ध नहीं होगी इसके फलसे मुझको बड़ा ही मानसिक कष्ट उठाना पड़ेगा। इसप्रकार वह संकल्पके द्वारा वासनाका नाश करनेके यत्नमें लगा और वासनासे संकल्पका उदय नहीं होने दिया, तब वासना, जिसकी रस्सी टूटगई है ऐसे घोड़ेकी समान उसको अपनी इच्छानुसार नहीं लेजासकी। उसने संकल्पको लगामरूपसे काममें लाकर वासनारूपी घोड़ेको क्रमसे अपने वशमें करलिया। उस समय वह जिस कार्यके करनेसे सुख मिलता है, उसी कार्य के अनुकूल वासनाको चलावेगा।

जिनको पूर्णरूपसे ज्ञान प्राप्त न हुआ हो वे जीव, वासनाको वशमें नहीं रखसकते, इसकारण वे पग २ पर अपनेको दुःखित करते हैं। क्रमसे ज्ञानकी वृद्धि होनेके संग२ जिस विषय की वासना करनेसे अशान्ति और दुःख होता है, उस विषयकी वासनाका मनमें उदय होते ही उसको संकल्पके द्वारा उपयोगी विषयकी ओरको चलाते हैं। जो छात्र अपने और दूसरेके सुख की वृद्धि चाहते हैं, उनको चाहिये कि—वासनाको अपने वशमें करें। दृष्टि डालकर और वस्तुका विचार करके, क्या सुखकारक है और क्या दुःखदायक है इसका निर्णय करके अपनी समस्त शक्तिके बलसे सुखमय विषयकी ही वासना करें।

किसी विशेष प्रकारसे जीवन को बितादेनेसे ही जन्म मरण रूप बन्धनसे मुक्ति नहीं होजाती है, भगवान् श्रीकृष्णने कहा है,

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते॥

(गीता ६। ३१। अ०)

जो सकल भूतोंमें स्थित मुझको भेदभाव छोड़कर भजता है विषयोंमें रहता हुआ भी वह योगी मुझमें ही स्थित है। क्षत्रिय राजर्षि जनक और वैश्य तुलाधार एकसे ही मुक्त थे, उनको वन में नहीं जाना पड़ा था, केवल वासनाका अभाव ही उनकी मुक्तिका हेतु हुआ था।

राजर्षिजनक मिथिलाके राजा थे और विदेहोंका शासन करते थे, उन्होंने मनमें शांति पाकर कहा था, कि-यद्यपि मैं अतुल संपत्ति का स्वामी हूँ, तथापि इसमें मेरा कुछ नहीं है। यदि सकल मिथिला जलजाय, तथापि मेरा कुछ नहीं जलेगा, उन्होंने सान्तव्यसे यह कथा कही थी, कि मनुष्यका जो कुछ है, वह सब कष्टका कारण हैं, वासनाका नाश होनेपर जो सुख होता है, स्वर्गमें वा मृत्युलोकमें वासनाकी चरितार्थतासे उसका सोलवाँ हिस्सा भी सुख नहीं मिलता है। जैसे बैलके सींग उसकी उमर बढ़नेके संग २ बढ़ते हैं, तैसे ही सम्पदाकी वासना सम्पदाकी वृद्धिके संग २ बढ़ती चलीजाती है। सम्पदा होनेपर उसके द्वारा सत्कर्म किया जासकता है, परन्तु उस सत्कर्मके फलकी इच्छा नहीं रखना चाहिये, क्योंकि वासना ही दुःख है। सब प्राणियोंको अपनी समान देखो। ज्ञानीकी ही सब आकांक्षाओंकी निवृत्ति होसकती है। योगी याज्ञवल्क्यजीसे शिक्षा पाकर जनक मुक्त हुए थे, क्योंकि-उनकी शिक्षासे ही वह ब्रह्मको पासके थे और तब ही उनकी आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति हुई थी, शिक्षा पाकर उन्होंने ही फिर गुरु बन व्यासपुत्र शुकको मोक्षधर्मकी शिक्षा दी थी।

जाजलिने बहुतसी तपस्याकी थी, उससे उसके मनमें अहंकार उत्पन्न होगया। एक दिन उसने अपने मन ही मनमें विचारा कि-ससागरा भूमिपर मेरी समान कौन है? उसी समय आकाशवाणी हुई कि-मनमें ऐसा विचार न करना। वैश्य तुलाधार यद्यपि रात दिन खरीदने बेचनेके काममें लगा रहता है

तथापि तुम उसकी समान नहीं हो। उस समय जाजालिने विचारा कि-एक साधारण बनिया मुझसे अधिक कैसे होसकता है ? मैं ब्राह्मण हूँ तपस्वी हूँ। यह विचार कर वह तुलाधारकी खोज करनेको चलदिया। बनारसमें पहुँचकर उसने तुलाधारको खरीदने बेचनेके कार्यमें तत्पर पाया इनको देखते ही तुलाधारने खड़े होकर अभ्यर्थना की और उनकी कठिन तपस्याका सब वृत्तांत सुनाकर कहा, कि-आप क्रोधमें भरकर मेरे पास आये हैं, कहिये इस समय मैं आपका कौनसा प्रिय कार्य करूँ ? जाजालि उसकी अतीतदर्शनकी शक्तिसे आश्चर्यमें होकर उसका कारण बूझने लगे, उस समय तुलाधारने उनको अति प्राचीन नीतिकी कथा सुनाई, उन सब नीतियोंको सब ही जानते हैं परन्तु कोई उनका पालन नहीं करता है। उन सब कथाओंका स्थूल मर्म यह है कि-मनुष्यका ऐसा वर्त्ताव होनाचाहिये कि-जिसमें किसीको कष्ट न देना पड़े। यदि किसीको अवश्य ही कष्ट पहुँचता हो तो यथासंभव थोड़ा कष्ट देना चाहिये। किसीसे कर्ज नहीं माँगना चाहिये किसीके साथ विवाद नहीं करना चाहिये, आसक्ति और द्वेषभाव दोनोंको त्यागना चाहिये। सबको ही समान समझे, किसीकी प्रशंसा वा निंदा न करे। जब कोई पुरुष निर्भय होता है और दूसरेके भयका कारण नहीं होता है, जिस समय वह किसीका भी अनिष्ट नहीं करता है, उसी समय वह ब्रह्मभावको प्राप्त होता है। मनुष्य और प्राणियोंके ऊपर निष्ठुरताका व्यवहार करनेसे उनका क्या अनिष्ट होता है, यज्ञविधि किसको कहते हैं यथार्थ तीर्थयात्रा क्या है, इन सब बातोंका वर्णन करके तुलाधारने दिखाया कि-शुद्ध अहिंसामय धर्मका आश्रय करके मनुष्य मुक्ति पासकता है।

तुलाधारने सुन्दररूपसे निर्दयता यज्ञविधि और यथार्थ तीर्थयात्रा आदिका वर्णन किया था और दूसरेका अनिष्ट करनेके परिणाम

को बताया था ।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शांत उपासीत ।
अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिल्लोके
पुरुषस्तथेतः प्रेत्य भवति ।

छांदोग्य ३ । १४ । १

इस जगत्में यह सब ब्रह्ममय है, उसीसे उत्पन्न हुआ है और उसीमें लीन होगा, शांत होकर उसकी उपासना करै, पुरुष जैसी भावना करता है इस लोकमें तथा परलोकमें वैसा ही पाताहै ।

तदेव सक्तः सह कर्मणेति मनो यत्र निषक्तमस्य ।

(बृहदारण्यक ४ । ४ । ६)

जो पुरुष सकाम है वह अपने कर्मफलसे, जिसमें आसक्त होता है वही वस्तु पाता है ।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स लिप्यते ॥ १३ ॥
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १४ ॥

गीता ४ अ०

कर्मोंकी शक्ति नहीं है कि मुझको लिप्त करसकैं, कर्मके फल में मेरी इच्छा नहीं है, जो मुझको ऐसा जानता है, फिर कर्मोंकी क्या शक्तिहै जो उसको बंधनमें डालसकें ॥१३॥ ऐसा जानकर पहिले मुमुक्षु पुरुष भी कर्म करते थे, उनके ही मार्गका अवलम्बन करके तुम भी कर्म करो, जैसा कि पूर्व महापुरुषोंने पहिले कियाहै

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥ १६ ॥
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥ २० ॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।

शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥ २१ ॥
यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥ २२ ॥
गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना ॥ २४ ॥

जिसके सकल कार्य काम संकल्प रहित हैं, उस ज्ञानाग्निसे सकल कर्मोंको भस्म करनेवाले पुरुषको चतुर पुरुष पण्डित कहते हैं ॥१९॥ कर्मफलमें आसक्तिको त्यागकर, नित्य तृप्त निरालंब वह पुरुष, प्रतिक्षण कर्म करता हुआ भी कर्मबन्धनमें नहीं पड़ता है ॥२०॥ हरसमय निष्काम, संयतचित्त होकर जो सकल परिग्रहका त्याग करदेता है वह शरीरके निर्वाहके लिए किसी प्रकारका कर्म करताहुआ भी पाप पुण्यसे लिप्तनहीं होता है ॥२१॥स्वयं सिद्ध होनेवाले लाभसे जिसका चित्त प्रसन्न रहता है, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वोंसे अतीत, मत्सररहित, हानिलाभको समान माननेवाला पुरुष, कर्मोंके बन्धनमें नहीं पड़ता है ।२२। सङ्गहीन, मुक्त और ज्ञानमें स्थित है चित्त जिसका ऐसा पुरुष यज्ञके निमित्त कर्म करता हुआ कर्मफलके बन्धनमें नहीं पड़ता है ॥ २३ ॥ ब्रह्मके ही अर्पण होता है,ब्रह्म ही हवि है, ब्रह्मरूप अग्निमें ही होम होता है, होम करने वाला भी ब्रह्म है और ब्रह्मकर्म समाधिके द्वारा ब्रह्ममें ही लीन होता है ॥ २४ ॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥
(कठ२।६।१५)

जब इसके हृदयमें स्थित कामनाओंके समूह दूर होजाते हैं तब यह मर्त्य जीव अमर होकर ब्रह्मानन्दको प्राप्त होता है ॥

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५ ॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ६ ॥
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥ ७ ॥

देहरूपी रथमें आत्माको रथी जानो, बुद्धिको सारथी और मनको लगाम जानो ॥ ३ ॥ इन्द्रियोंको घोड़े और विषयोंको उनके फिरनेका स्थान जानो, आत्मा मन और इन्द्रियोंके साथ मिलकर सकल भोगोंको भोगता है, ऐसा विद्वान् कहते हैं ॥४॥ जिस अज्ञानीका मन युक्त नहीं होता है, उसकी इन्द्रियें वशमें नहीं रहती हैं, जैसे कि लगामकी डोर ढीली होनेपर सारथीके दुष्ट घोड़े जिधर तिधरको जाने लगते हैं ॥५॥ परन्तु जिस ज्ञानीका मन युक्त होता है, उसकी इन्द्रियें काबूसे बाहर नहीं होसकतीं जैसे कि-श्रेष्ठ घोड़े सदा प्रसन्नताके साथ सारथीकी आज्ञानुसार श्रेष्ठ मार्गमेंको जाते हैं ॥ ६ ॥ जिस अज्ञानीका मन स्थिर नहीं होता है, जो सदा अपवित्र रहता है, वह ब्रह्मपदको नहीं पासकता और निरन्तर संसारचक्रमें घूमता रहता है ७

पञ्चम अध्याय

यज्ञ विधि

यज्ञका प्रधान कार्य अर्पण वा निवेदन है, इस बातको भारत वर्षके बूढेसे लेकर बालक तक जानते हैं । परन्तु इस यज्ञ कर्ममें

जो मूलतत्त्व भीतर स्थित है, वह छात्रोंको भली प्रकार हृदयङ्गम करलेना चाहिये, तब वह भले प्रकार समझ सकेंगे कि—दूसरेके लिए आत्मत्याग वा आत्मसमर्पण ही यज्ञ है और बाहरी द्रव्योंके त्यागके द्वारा मनुष्यको यह शिक्षा दीजाती है कि—साधारण पदार्थोंका त्याग करते २ यह आत्मबलिदान करनेमें समर्थ होगा।

इस सृष्टिकार्यमें पहिला कार्य यज्ञ वा त्याग है। इस ब्रह्मांड की सृष्टिके लिए अनन्त ईश्वरको भौतिक आवरणमें बँधना पड़ा था। श्रुति और स्मृति इस बातको एकवाक्य होकर घोषित करती हैं, पुरुषसूक्तमें यह बात स्पष्टलिखी हुई है। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण भगवान्ने भी कहा है।

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।

जो देवके उद्देश्यसे त्यागरूप यज्ञके द्वारा भूतोंकी उत्पत्ति और वृद्धि होती है,उसका ही नाम कर्म है। भूत पदार्थमें आबद्ध होनेसे अध्यात्मभाषामें मृत्युशब्दसे कहा जाता है। अतएव ईश्वरने आत्मत्यागरूप यज्ञके द्वारा अपने अंशको बहुत्त्व देकर अनेकों जीवोंकी कल्पना कर उनको प्रकृतिके आवरणमें स्थापित किया है। उससे ही स्थावर जंगमरूप बहुतसी मूर्तियें प्रकट हुई हैं। यह ही प्रथम यज्ञ है, यह ही यज्ञविधिकी मूल है। इस के ही द्वारा हम यज्ञके वास्तविक अर्थका अनुभव करसकते हैं दूसरेके लिए अपने प्राणोंकी आहुति देना ही यज्ञ है।

सकल जीवोंके विषयमें प्राणयज्ञको ही यज्ञ जानो। प्रथम अवस्थामें उनको बलात्कार से यज्ञ आहुतिरूपमें कल्पना किया गया था, इसलिए उनकी उन्नति बलात्कारसे कराई जाती थी। उसमें उनकी सम्मति वा ज्ञानका प्रयोजन नहीं था उनके देहमेंसे जबरदस्ती जीवको अलग करके अन्य देहका उपयोगी बनाया जाता था। उसमें धीरे२जीवका विकाश होता था।

इसप्रकार स्थावरमेंका जीव क्रमसे उद्भिद्के उपयोगी होगया था अर्थात् उसके स्थावरशरीरने क्रमसे उद्भिद् शरीरके पोषण कार्यमें खरच आकर उसका आकार पाया था। उद्भिद्में स्थित जीव भी तिसीप्रकार क्रमसे पशुशरीरकी रक्षाके लिए धीरे २ पशुशरीरमें परिणत हुआ। पशु आदिके देहमेंका जीव भी तिसीप्रकार क्रम २से मनुष्यदेहमें सञ्चारित हुआ है, यहाँ तक कि मनुष्यके शरीरमेंका जीव भी नरमांसभक्षी मनुष्यके देहके पोषणकार्यमें और युद्ध आदिमें निहत होकर अतिउच्च शरीर का अधिकारी हुआ है।

इन सब स्थलोंमें देह दूसरोंके उपकारके लिए परित्यक्त होने पर भी देहमें स्थित चेतनाकी उसमें सम्मति नहीं होती है। बहुत समयके अनन्तर देहमें स्थित जीव इस सार्वजनिक विधि का स्वयं अनुभव करसकता है। उस समय अपनी इच्छा से अपनी उपाधिको त्यागकर परोपकारको साधनेकी उस की इच्छा होती है, इसीको आत्मत्याग कहते हैं। उस समय ही जीवमें ईश्वरभाव है इस बातका प्रमाण मिलता है। महाभारतमें पूर्ण आत्मत्यागकी एक सुन्दर कथा है। देवराज इंद्रको ऋषियों के रोषसे उत्पन्न हुए वृत्रासुरने पीड़ा दी थी। वृत्रासुरने दैत्योंको साथ लेकर सेनासहित इन्द्रको युद्धमें परास्त कर अमरावतीसे निकालदिया। देवताओंने इन्द्रके साथ बहुत दिनों तक छिपेहुए रह कर अपने राज्यको पानेकी चेष्टाकी और बार २ परास्त हुए अन्तको उनकी समझमें आया कि-यह ऋषियोंके क्रोधसे उत्पन्न हुआ दुर्विपाक, किसी और ऋषिके अपनी इच्छानुसार आत्म-त्याग किये बिना शान्त नहीं होसकता इसलिए कोई ऋषिआत्म-त्याग करें और उनके शरीरकी हड्डियोंका वज्र नामक अस्त्र बनाया जाय तब ही वृत्रासुर मारा जासकता है, दूसरे अस्त्रसे वृत्रा-सुरका माराजाना कठिन है। उससमय वह दधीचि ऋषिके पासगए

और उनको अपनी दुःख कहानी सुनाई। ऋषिने कृपावश होकर कहा कि-'मैंने अपनी इच्छासे तुमको अपना शरीर दिया, तुम इसको लेकर इससे जो चाहो सो काम करसकते हो।'परंतु देव-शिल्पी विश्वकर्मा ऋषिके जीवित शरीरमेंसे हड्डियें लेतेमें सकुचाये तब दधीचिने हँसकर कहा कि मेरे शरीरपर लवण लगाकर गौओंसे चटवाओ, तब वह लवणके साथ मेरे शरीरके मांसकोभी चाटजायँगी, उससमय हड्डियें लेनेमें कुछ अड़चन नहीं रहेगीऔर मेरे शरीरमेंका कुछ भाग भी निरर्थक नष्ट नहीं होगा। यह ही कियागया। आत्मयज्ञके फलसे वृत्रासुर मारागया। महाभारत के वनपर्वमें यह कथा विस्तारके साथ लिखी है।

ऋषियोंने मनुष्योंके लिए जो यज्ञ करनेकी विधियें बताई हैं, उनका फल उसी समय नहीं मिलता है। उन्होंने कहदिया है कि-जो कुछ परोपकारके लिए त्यागाजाता है वह बढ़कर भविष्यत् में उसको भोगनेके लिए प्राप्त होता है। इस उपदेशके बलसे जीवको त्यागधर्मके स्वीकारका ज्ञान हुआ था। प्रायः मनुष्य अपने प्रयोजनसे अधिक द्रव्य दूसरेको देदेता है और उसके फलसे भविष्यत्में अधिक लाभ होनेकी प्रत्याशा रखता है। फिर वह शिक्षा देता है कि वर्त्तमानमें सुखकी आशाको छोड़ने से स्वर्गमें अधिक सुखका भोग मिलता है, इसप्रकार त्यागकर अभ्यास होता है। अन्तमें त्याग आवश्यक कर्त्तव्य प्रतीत होने लगता है और उसको करनेसे उस समय जैसा आनन्द होताहै उसको ही उस कार्यका यथेष्ट फल मानने लगता है।

इस कार्यके द्वारा मनुष्य और जीवोंको अपने कर्त्तव्यकी शिक्षा-देता है। मनुष्य समझ सकता है कि-वह अकेला नहीं है,किन्तु सब हीजीव परस्पर सापेक्ष हैं और उस सापेक्षताका ज्ञान होनेसे ही उनकी उन्नति होसकती है।ऋषिगण मनुष्यके लिए पञ्चयज्ञ की विधि बतागए हैं। वह पञ्चयज्ञ मनुष्यका कर्त्तव्यधर्म है और

पाँच ऋणोंका निवटाना है, देवता ऋषि, पितर मनुष्य तथा अन्य प्राणियोंने उसके जीवनके लिए जो सहायताकी है उसका ही पलटा देनेके लिए यह पञ्चयज्ञ करने चाहियें, जब वह दूसरेकी सहायतासे जीवित हैं। तब उनको भी दूसरोंके लिए ही जीवन धारण करना चाहिये, यज्ञ करना चाहिये, तदन्तर जीवको जिस समय अपनी उत्पत्तिकी कथा ज्ञात होती है तब वह समझता है कि उसके साथ ईश्वरत्व अभिन्न है, उससमय त्याग प्राणोंको आनंद-दायक व्यापार मालूम होने लगता है। उससमय अपने प्राणोंको जगत्के प्राणोंमें मिलादेनेकी वासना होती है, उससमय यही प्राणों को आनंददायक प्रतीत होने लगता है, उससमय और कुछ ग्रहण करनेकी लालसा नहीं होती है, उससमय ग्रहण करनेका प्रयोजन कम होजाता है और सर्वस्व त्यागनेमें भी संकोच नहीं होता है। उससमय वह अपनी उपाधिकी रक्षाके लिए निर्वाहमात्र वस्तुओंको ग्रहण करनेका प्रयोजन रखते हैं। अपने शरीरकी रक्षाके लिये दूसरोंको जितना कम कष्ट पहुँचे उसका ध्यान रखते हैं, जिस आहार विहारमें चेतन जीवोंको कष्ट पहुँचताहै उसको वह त्याग देते हैं। उससमय वह सब जीवोंको मित्रभावसे देखते हैं। उससमय वह समझते हैं, कि—किसी अवस्थामें क्रमविकाश के लिए एक जीवको अपर जीवकी हिंसाका प्रयोजन होने पर भी मनुष्यकी उन्नतिके साथ २ दया दाक्षिण्य आदि गुणोंकी वृद्धि ही मंगलकारक है दुर्बल पुरुषको अपनी ही दूसरी मूर्त्ति मान कर उसकी सहायता करना चाहिये, उसको कष्ट कभी न पहुँचावे

मनुष्य इसप्रकार अभिन्नभावकी चिंता करते २ 'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्' इस सिद्धान्तको समझसकता है। धीरे २ उसको बोध होता है कि दूसरोंके लिए ही उसका जीवन धारण है ईश्वर जैसे सबमें प्राणरूपसे वर्त्तमान है और वह ही उसका आनन्द है, तैसे ही ईश्वरकी इच्छाकी इच्छाका अनुवर्त्तनही उसका आनंद

है। ऐसा ज्ञान होनेपर सब ही काम ईश्वरकी प्रीतिके लिए करने होते हैं जब यह ज्ञान् होजाता है, उस समय यज्ञविधि ही मुक्ति का उपाय होती है।

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥
देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥
इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥
(गीता ३ अ०)

यज्ञके साथ प्रजाकी सृष्टि करके प्रजापतिने कहा था कि—हे मनुष्यों! इस यज्ञके द्वारा तुम अपनी उन्नति करो, यह तुम्हारी अभीष्टसिद्धि करदेगा॥१०॥ इस यज्ञसे तुम देवताओंको तृप्तकरके उसके द्वारा तुम मुक्तिस्वरूप परमेश्वर तकको पाजाओगे ११ यज्ञ के द्वारा तृप्त हुए देवता तुमको इच्छित पदार्थ देंगे, उन देवताओं के दियेहुए भोगोंको उनको बिना दिये जो अपने आप ही खालेता है वह चोर ही है ॥१२॥ जो सज्जन यज्ञशेष खातेहैं वे सकल पापोंसे छूटजाते हैं, जो दुरात्मा अपना पेट भरनेमात्रके उद्देश्य से पाप करते हैं वह मानो पापका ही भोजन करते हैं।१३। अन्न से प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है, अन्न पर्जन्य (मेघों)से उत्पन्न होता है, यज्ञसे पर्जन्य होते हैं और यज्ञकर्मके द्वारा सम्पन्न होता है

कर्म वेदसे और वेद परब्रह्म परमात्मासे प्रकट होता है अतःकर्म में सदा ब्रह्म ही स्थित है ॥ १५ ॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥
(गीता ४ अ०)

मनुष्य कर्मफलकी इच्छा करते हुए देवताओंका यजन करते हैं, इस मनुष्यलोकमें कर्म करनेसे शीघ्र ही सिद्धि होती है १२

आवा राजानो वध्वरेववृत्याम्,
हव्येभिरिन्द्रो वरुणो नमोभिः ॥ १ ॥
अस्मे इंद्रावरुण विश्ववारम् ।
रयिं धत्तं वसु यन्तं पुरुक्षुम् ॥ ४ ॥
इयमिन्द्रं वरुणमष्टमे गोः ।
प्रावत्तोके तनये तू तुजाना ॥ ५ ॥
(ऋक् ७ । ८४)

हे इंद्र वरुण राजन् ! तुम दोनों, यज्ञमें आओ हवि और प्रणामको ग्रहण करो ॥१॥ हे इंद्र वरुण ! कृपा करके हर प्राण धन, भाग्य और सुख दो ॥ ४ ॥ इंद्र वरुणके समीप मेरा स्तुतिरूपी गान पहुँचनेपर प्रसन्न होकर हमको सन्तान दें ॥५॥

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु, यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन् ।
तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो, यत्र देवानां पतिरेको ऽधिवासः
एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः,सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य,एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः
(मुण्डक १ । २)

इन सात शिखाओंके ऊपर जो पुरुष यथासमय सदाआहुति देता है, सूर्यकी किरणें उसको धीरेसे ग्रहण करके देवराज इंद्र के स्थानमें उसके आसनपर रख देती हैं ॥५॥ सुवेकी आहुति को 'आओ, आओ' कहकर सूर्यकी किरणें यजकके साथ ले जाती हैं वह आदर करके मधुर वचन कहती हैं कि-यह पवित्र ब्रह्मलोक है, यहाँ रहो ॥ ६ ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

(गीता ४ अ०)

जो यज्ञशेष अमृतका भोजन करते हैं वह शीघ्र ही सनातन ब्रह्मको पाजाते हैं, यज्ञहीनका यह लोक ही नहीं है फिर परलोक उसका ठीक होही कैसे सकता है ॥ ३१ ॥

गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥

(गीता ४ अ०)

संगहीन, मुक्त और जिसका चित्त ज्ञानमें स्थित है वह यज्ञके लिए कर्म करें तब भी कर्मका फल उसको भोगना नहीं पड़ता है ॥ २३ ॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

जो कुछ करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो कुछ दान करता है और जो कुछ तपस्या करता है, कुरुनन्दन ! वह सब मुझको ही अर्पण कर ॥२७॥ इसप्रकार करनेसे शुभाशुभ फल और कर्मबन्धनसे निस्तार पाजायगा ॥ २८ ॥

❀ षष्ठ अध्याय ❀

दृश्य और अदृश्य लोक

हम जिस लोकमें बसते हैं,जहाँ हम देखते हैं, सुनते हैं, स्पर्श का अनुभव करते हैं; स्वाद लेते हैं,और सूँघते हैं, उस लोकके विषयमें ही हमको यथासम्भव ज्ञान है विज्ञान हमसे इस लोक के बहुतसे ऐसे अंशोंके विषय कहता है,जो कि–हमारी इंद्रियों

के अगोचर हैं। ऐसी बहुतसी वस्तुएँ हैं जोकि—हमारी दृष्टिकी शक्तिके बाहर हैं और इन्द्रियोंकी शक्तिके भी अतीत तथा अति-सूक्ष्म हैं। हमारे इस लोककी जो ऐसी वस्तुएँ हैं जिनको कि-हम अपनी इन्द्रियोंसे ग्रहण नहीं करसकते, परन्तु विज्ञानके बल से हम उनको जान सकते हैं, वह हमारे अगोचर होने पर भी निःसन्देह भौतिक हैं भौतिक पदार्थोंके कठिन, तरल, वाष्पीय और ईथरीय सब ही अंश परमाणुओंसे गठित हैं।

इसके सिवाय और लोकोंके विषयको हम सुनते ही हैं, वह सब लोक अदृश्य हैं और इस लोकके अंश नहीं हैं, उनसब लोकोंमें जीव मरणके अनन्तर जाते हैं। हमने त्रिलोकी वा त्रिभुवनकी बात पढ़ी है। सबही को उनके विषयका कुछ२ ज्ञान होना चाहिये। क्योंकि—यह जीव जन्ममरणके चक्रमें बँध कर निरन्तर इस त्रिलोकीमें घूमता रहता है, इस भ्रमणके अनुग्रहसे ही उसकी क्रमोन्नति होती है यह त्रिलोकी ब्रह्माके दिन अर्थात् कल्पके आरम्भमें उत्पन्न होती है और अन्तमें इसका ध्वंस होजाता है। इनके सिवाय और भी चार लोकोंके द्वारा इस ब्रह्मा-ण्डके सात लोकोंकी संख्या पूर्ण होती है। वह चार लोक ब्रह्मा की आयु भर वर्त्तमान रहेंगे। इस समय हम उन चार लोकोंके विषयका वर्णन नहीं करेंगे। इन लोकोंमें और भी विभाग हैं, जैसे भुवर्लोकमें प्रेतलोक और पितृलोक हैं, स्वर्लोकमें इंद्रलोक और सूर्यलोक हैं, इत्यादि।

जिन तीन लोकोंके साथ हमारा विशेष संबन्ध है, वह भूलोक भुवर्लोक और स्वर्लोक नामसे प्रसिद्ध हैं। भूर्लोक कहनेसे यह स्वर्ग और मर्त्यके मध्यका लोक समझाजाता है और स्वर्लोक ही स्वर्ग है। इस त्रिलोकीमें भूर्लोकका कुछ अंश हमारे चक्षुओं के गोचर है और बाकी इन्द्रियोंके गोचर नहीं है। भूर्लोकके सकल पदार्थोंका प्रधान उपादान पृथ्वीतत्त्व ही है। पृथ्वीतत्त्व

की कठिन, तरल, वायव्य, तेजोमय, ईथरीय और आणविक अवस्था हैं और शेष चारकी ईथरावस्था है। भूर्लोकके सकल पदार्थोंकी भी इसीप्रकार सात अवस्था हैं, किन्तु उसका मूल उपादान जलतत्त्व है। स्वर्लोकके मूल उपादान अग्नितत्त्वकी भी तिसीप्रकार सात अवस्था हैं।

इस त्रिलोकीके अनुरूप जीवनके तीन आवरण हैं। वह अन्नमय, प्राणमय और मनोमय नामसे प्रसिद्ध हैं। अन्नमयकोष हमारे भोजनके अन्नसे उत्पन्न होनेके कारण इस नामसे प्रसिद्ध हुआ है। वह भूर्लोकके दृश्य अंशकी समान कठिन तरल और वायव्य-अणुके द्वारा गठित है। प्राणमय कोष भूर्लोकके अदृश्य अंशकी समान व्योमपदार्थसे गठित है। प्राण ही जीवन शक्ति है। वैज्ञानिक, वैद्युतिक और सकल तड़ित् शक्ति इसीके अंतगत हैं, परन्तु जीवनशक्तिमें इसके सिवाय और भी कुछ है, इन दोनों लोकोंका भूर्लोकके साथ सम्बन्ध है।

मनोमय कोष दो भागमें बटाहुआ है, इसमेंके अधिक घन-भागका भूर्लोकके साथ सम्बन्ध है जिसमें कि-सकल कामना स्थित हैं। अधिक सूक्ष्म भागका स्वर्लोकके साथ सम्बन्ध है, जिसमें कि-भाव और भावना रहती हैं।

इन कोषोंके और भी नाम हैं, परन्तु उन सबका यहाँ वर्णन करके पाठकोंको चिन्तामें डालना नहीं चाहते। उनका ज्ञान बढ़ने के साथ २ वह अपने आप ही उनको ज्ञात होजायँगे। जिस तीन प्रकारके नामोंका चराचरमें व्यवहार किया जाता है हम उनका ही उल्लेख करेंगे।

अन्नमयकोषका दूसरा नाम स्थूलशरीर है और वह कठिन तरल तथा वायव्य उपादानसे गठित है। प्राणमय और मनोमय इन दोनों कोषोंको विज्ञानमय कोषके साथ इकट्ठा करके सबको सूक्ष्म शरीर नामसे कहाजाता है। इस विज्ञानमय कोषके द्वारा

जीवका महर्लोकके साथ सम्बन्ध है, यह महर्लोक त्रिलोकीसे पर है, इसमें भी जीव जाता है यह लोक कल्पके अन्तमें भी नष्ट नहीं होता है, किंतु वासके अयोग्य होजाता है, सूक्ष्मशरीरका यह विज्ञानमय अंश कुछ अधिक दिनों ठहरता है। जन्ममरण रूप चक्रमें नष्ट नहीं होता है।

इन तीन प्रकारके विभाग और लोकोंके साथ इनके संबन्धको स्पष्ट करके दिखाते हैं।

शरीर	लोक	कोष
स्थूल	भूर्लोक	अन्नमय
सूक्ष्म	भूर्लोक	प्राणमय
सूक्ष्म	भुवर्लोक	मनोमय
सूक्ष्म	स्वर्लोक	मनोमय

(यह शरीर मृत्युके समय नष्ट होकर पुनर्जन्मके समय फिर उत्पन्न होता है)

सूक्ष्म	महर्लोक	विज्ञानमय

(यह शरीर वा कोष मृत्युके समय और मृत्युके अनन्तर भी नष्ट नहीं होता है और पुनर्जन्मके समय नया उत्पन्न भी नहीं होताहै)

स्थूल शरीरमें हाथ, पैर, वाणी पायु और उपस्थ, इन कर्मेन्द्रियरूप यंत्रोंका स्वरूप वर्त्तमान है, परंतु यथार्थ इंद्रियोंका केन्द्रस्थान सूक्ष्मशरीरमें है, इसलिए हर्ष विषाद आदि भावोंका अनुभव उस केन्द्रमें ही होता है तदनन्तर इंद्रियरूपी यंत्र काम करते हैं। ज्ञानेन्द्रियोंका केन्द्रस्थान भी उस सूक्ष्मशरीरमें ही है, किंतु स्थूलदेहमें इन्द्रियोंके साधन चक्षु, कर्ण नासिका, जिव्हा और त्वचारूपसे वर्त्तमान हैं।

अब मरण समयमें जो कुछ घटना होती है उसकी आलोचना करते हैं। पहिले स्थूलशरीर सूक्ष्मशरीरसे भिन्न होता है, जीव प्राणमय कोषके द्वारा उसको पृथक् करदेता है। उससमय स्थूल

शरीर प्राणहीन जड़ पिण्डकी समान त्याग दियाजाता है, परंतु उससमय भी जड़ सम्बन्धी अणुओंके प्राण होते हैं। उसीके कारण वह सकल परमाणु उससमय परस्पर विच्छिन्न होजाते हैं, क्योंकि सबका शासक प्राण उस समय नहीं है, उस समय जीव सूक्ष्म शरीरमें ही रहता है। शीघ्र ही जीव प्राणकोषको त्यागकर मनोमय कोषके अधिक स्थूल अंशको बाहरी आवरण रूपसे रखकर प्रेतरूपसे प्रेतलोकमें वास करता है। यदि उसने पार्थिव जीवन को साधुभावसे व्यतीत किया होता है तो वह प्रेतदशामें आनंद पाता है। दुराचारी पुरुषकी प्रेतावस्था बड़ी ही कष्टदायक होती है। उससमय उसको पार्थिव सुखभोगकी लालसा होती है परंतु उसको भोगनेकी शक्ति नहीं होती है, उन लालसाओंके अनुसार ही न्यूनाधिक समय तक इसको कष्ट भोगना पड़ता है तदनन्तर मनोमय कोषका स्थूलअंश नष्ट होने पर वह पितृलोकमें जाता है तहाँ मनोमय कोषमेंसे स्वर्गके अयोग्य उपादानको शुद्ध करके जीव विशुद्ध मनोमय कोषसे युक्त हुआ स्वर्गलोकमें प्रवेश करता है, तहाँ वह अपने सञ्चित कर्मोंके फलको भोगता है।

उस फलके निःशेष होजाने पर उसके पुनर्जन्मका समय आपहुँचता है, उससमय मनोमय कोषका ध्वंस होने पर विज्ञानमय कोषसे आवृत हुआ जीव फिर मनुष्यदेहके गठनमें तत्पर होता है। पहिले पुनर्जन्मके उपयोगी नवीन मनोमय कोषके उत्पन्न होनेपर देवता, पूर्वकर्मके अनुसार नया प्राणमय और अन्नमय कोष तयार करदेते हैं, उसका आश्रय करके जीव फिर भूलोकमें आता है।

जीवके भाग्यमें ऐसा आवागवन अनेकों बार संघटित होता है। अन्तको जीवको त्रिलोकीमें घूमते २ तृष्णा रहित होने पर अति ऊँचे लोकके लिए इच्छा और शांतिमय अनन्त जीवनके

लिये लालसा होती है। क्रमसे इस पृथ्वीके सकल ही पदार्थों में उसकी तृष्णा दूर होजाती है। ध्यानमें आनन्द मालूम होता है, पूजामें रुचि होती है, दुर्बलकी सहायता करनेको मन चाहता है। उसमें जीवको फिर इन सकल कोषोंकी सहायतासे आनन्द का अनुभव करनेकी इच्छा नहीं रहती है, यह सब केवल परोपकारके उपयोगी प्रतीत होने लगते हैं। उस समय वह इस देह में रहकर अति ऊँचे लोकमें स्थित होता है। केवल देहयंत्र ही इस लोकके कार्यमें तत्पर होता है, उस समय वह देहमें स्थिति करता हुआ ईश्वरसम्बन्धी कार्योंमें ही जीवनदान कर देता है या ब्रह्ममें जाकर मिलजाता है।

अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति।

(बृहदारण्यक १।५।१६)

मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक इन तीनोंको त्रिलोकी कहते हैं।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७॥
अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिवेदना ॥ २८ ॥

(गीता २ अ०)

जो जन्मा है उसका मरण अवश्य होगा और जिसका मरण होगा वह अवश्य जन्म लेगा, इसलिये हे अर्जुन! तुमको ऐसी अवश्य होनीके विषयमें शोक नहीं करना चाहिये ॥ २७॥ सब जीव अव्यक्तसे उत्पन्न हुए हैं दो दिनके लिये व्यक्तभावसे खेलते फिरते हैं, मरणके अनन्तर फिर अव्यक्त आकारके हो जाते हैं, इसलिये हे भारत! जो जैसाका तैसा होजाता है; उस के लिये शोक करना क्या है ॥ २८ ॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥
अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

एक सहस्र युगका ब्रह्माका एक दिन होता है और एकहजार युगकी ही ब्रह्माकी रात्रि होती है, इस बातको चतुर पुरुष जानते हैं ॥ १७ ॥ जब दिन होनेका प्रारंभ होता है तब अव्यक्तसे सकल व्यक्तियें प्रकट होती हैं और जब रात्रि होनेको होती है तब सब उसीमें लीन होजाती हैं ॥ १८ ॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंति
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

(गीता ९ अध्याय)

जो त्रिवेदवेत्ता पण्डित कामनाके वशमें होकर अनेकों यज्ञकर यज्ञशेष सोमको पीते हुए स्वर्गगतिकी प्रार्थना करते हैं वह पाप-रहित होकर पवित्र देवलोकमें पहुँच स्वर्गराज्यमें नाना प्रकारके दिव्य देवभोगोंको भोगते हैं ॥२०॥ परन्तु वह सब भोग चिर-कालतक नहीं रहते हैं, वह बहुत दिनोंतक विशाल स्वर्गलोक को भोगकर पुण्यका क्षय होने पर फिर इस मर्त्यलोकमें आकर जन्म धारण कर लेते हैं, वैदिक कर्मोंके करनेसे जीव इसप्रकार जन्म मरणको पाते रहते हैं ॥ २१ ॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥

बहुत जन्मोंके अनन्तर अन्तमें ज्ञानी मुझको प्राप्त होता है, जब वह यह जान जाता है कि–सब वासुदेव ही है तब वह सब को ब्रह्ममय समझता है, ऐसा महात्मा बड़ा दुर्लभ है ॥ १९ ॥

॥ श्रीहरिः ॥

द्वितीयखण्ड

प्रथम अध्याय

संस्कार

सब ही धर्मोंमें उन धर्मोंको मानने वालोंके लिये कितने ही आवश्यक कर्त्तव्य कर्म बताए हैं। वह सब कर्म-(१) जीवको सकल आवरण शुद्ध करके (२) देवता ऋषि आदि उच्चतर शक्तिमार्गोंके समीप पहुँचाकर शक्ति पानेमें सहायता करते हैं। और (३) अपने चारों ओर स्थित वायुकी अवस्थाकी उन्नति करते हुए, सहजमें ही मनकी एकाग्रता सिद्ध होजाय इसका उपाय कर देते हैं। इस प्रयोजनको साधनेके लिये भौतिक पदार्थ, अनेकों प्रकारके आसन, मुद्राएँ और तन्त्रोंका व्यवहार किया जाता है।

जो द्रव्य उपयोगी मानकर नियत किये गए हैं, उनका अधिक भाग उच्चतर बिजलीकी शक्तिसे युक्त है और उपासक देवताकी भावनाके अनुकूल होनेसे उपास्य और उपासकमें आकर्षणको स्थापन करते हैं। जैसे श्रीविष्णुपूजामें तुलसीकी माला और श्रीशिवपूजामें रुद्राक्षकी माला इत्यादि।

आसन मुद्रा आदिके द्वारा प्राणादि पञ्चवायुका संयम आदि होता है, किसी द्वारसे भी देहकी वैद्युतिक शक्ति बाहरी वायुके द्वारा बाहर नहीं निकलती है, किन्तु देहके भीतर ही ऊपर कही रीतिसे प्रवाहित होकर मनको स्थिर और परम शान्त कर देती है। शब्दका व्यवहार भी इसी उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिये किया जाता है। शब्दसे प्रकम्पन उत्पन्न होता है और सकल प्रकम्पन समान तथा नियमित होनेके कारण सूक्ष्म देहमें भी प्रकम्पन

उत्पन्न करसकते हैं। क्योंकि-सूक्ष्मदेह समान और अत्यंतक्रिया शक्तियुक्त होता है। सूक्ष्मशरीरके इन सब प्रकम्पनोंके नियमित होनेपर जीवके चित्तकी स्थिरता, ध्यानशक्ति और साधनशक्ति बढ़जाती है। सुसम्बद्ध शब्दसमूहके बलसे देवता और ऋषि साधनाके समीपको खिचकर उसकी सहायता करते हैं। विशेषतः सुग्रथित शब्दसमूहकी शक्तिसे विपरीत शक्तियें और अनिष्टकारक वैद्युतिक शक्तियें नष्ट होजाती हैं और साधकके चारों ओरकी अवस्था सुखकारक होजाती है।

ऐसे सुग्रथित शब्दसमूहका नाम मन्त्र है। मन्त्रोंके शब्द इस प्रकारसे गुथे हुए हैं कि-उनके उच्चारणसे एक प्रकारकी शक्ति उत्पन्न होती है। शब्दोंके बदल जाने पर शक्तिमें भी परिवर्त्तन वा हानि होती है इसलिये मन्त्रोंकी शब्दशृंखला न बदली जासकती है न उसको दूसरी भाषामें लायाजासकता है। मन्त्रोंका अनुवाद करनेपर वह अनुवाद मन्त्रोंका काम नहीं देसकता, क्योंकि मन्त्र साधकके मनमेंके भावके सूचक नहीं हैं, केवल शक्तिके उद्बोधकमात्र हैं।

मन्त्रोंके विषयका और भी गूढ़ रहस्य जाननेकी आवश्यकता है, जो पुरुष किसी मन्त्रके द्वारा साधन करे उसका जीवन सद्भाव से परिचालित होना चाहिये। नहीं तो मन्त्रसाधनसे इष्ट न होकर अनिष्ट होनेकी सम्भावना है, क्योंकि-मन्त्र सूक्ष्मशरीरमें कार्य करके उसको कुत्सित भाव और खोटी वासनाके प्रतिकूलभाव से गठित करता है, उससे सूक्ष्मदेहमें जो प्रकम्पन उत्पन्न होता है, वह कुवासना और कुभावके आलोडनसे उत्पन्न हुए प्रकम्पन का विपरीतधर्मी है उन दो भिन्नधर्मी कम्पनोंके परस्पर टकराने से सूक्ष्मदेह विच्छिन्न होसकता है। मनका सत्भाव होनेपर ऐसा नहीं होता है, वह सत्भाव चाहे जितना दुर्बल हो मन्त्रकी सहायता ही करता, प्रतिकूलता नहीं करता है।

मंत्रको ऊँचे स्वरसे उच्चारण करनेकी आवश्यकता नहीं है, मन ही मनमें उच्चारण करनेसे उसकी शक्ति बढ़जाती है, क्योंकि–वह स्थूल देहके ग्रहण करनेमें न आनेसे केवल सूक्ष्म देहमें ही पूर्णरूपसे कार्य करती है।

हिंदूजीवनके कर्मदण्डमें संस्कार ही प्रधान हैं, क्योंकि–जन्मसे उत्पन्न हुआ जीव उत्तरोत्तर संस्कृत होकर कार्यका अधिकारी होता है। प्राचीन समयमें असंख्य संस्कार थे, उनमें दश प्रधान हैं। आजकल इन दशमें भी कोई २ प्रचलित हैं, उन दश में से ७ संस्कार शैशव अवस्थाके हैं, जिनमें से छटेका नाम अन्नप्राशन है। यह सर्वत्र ही प्रचलित है। अन्नप्राशनके समय बालकको अन्न भोजन करनेको दियाजाता है। सातवाँ चूडाकरण है, इसीके साथ कर्णवेध भी होजाता है। आठवाँ संस्कार उपनयन है, इस समय बालकको गुरुके समीप लेजाकर यज्ञसूत्रके साथ गायत्री दिलवाते हैं और उसी समयसे उसकी द्विजोंमें गिनती होती है।

उपनयन संस्कारसे ही छात्रजीवनका प्रारम्भ है। पहिले इस समयसे बालक ब्रह्मचर्यको धारण करके शास्त्रकी शिक्षा पाते थे। समावर्त्तन संस्कारके द्वारा छात्रजीवनकी समाप्ति होती है, तदनन्तर वह गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेका अधिकारी होता है। दशवाँ संस्कार विवाह है। इस संस्कारसे छात्र गृही होकर गृहस्थको अवश्य पालन करनेयोग्य साधनोंका दायी (जिम्मेवार) होता है।

आजकल भारतवर्षमें प्रायः उपनयन और विवाह संस्कार ही समारोहके साथ किये जाते हुए देखनेमें आते हैं। विवाह भी आजकल छात्रजीवनके समाप्त होनेसे पहिले ही करदिया जाता है। इस प्रकार दोनों संस्कारोंके कर्त्तव्यका बोझा एक साथ ऊपर आपड़नेसे बालकोंका बड़ा अनिष्ट होता है। हाय न जाने कब भारतमें वह पहिलेसे नियम प्रचलित होंगे।

एकः शब्दः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति ।

(पातञ्जल महाभाष्य ६।१)

एक शब्द सुन्दर रीतिसे प्रयोग किया जाने पर स्वर्गलोकमें कामनाको पूरा करनेवाला होता है ।

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो
न तमर्थमाह । स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥ ५२ ॥

(पाणिनीय शिक्षा)

स्वर वर्ण हीन-मन्त्रका प्रयोग वृथा है, उससे मंत्रका अर्थ प्रकाशित नहीं होता और उसका बल विपरीत होजाता है, वह वाक्य वज्रसमान होकर यजमानको मारता है, जैसे कि स्वरभ्रष्ट होनेके अपराधसे इन्द्रशत्रु वृत्रासुरका मरण हुआ ॥ ५२ ॥

वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥ २६ ॥

(मनु २ अ०)

पवित्र वैदिक कर्मोंके द्वारा द्विजोंके निषेक आदि पुण्य कर्म होते हैं, उनके द्वारा शरीरका संस्कार करना चाहिये, जो कि-इस लोकमें और परलोकमें भी पवित्र करने वाला है ॥ २६ ॥

चित्रकर्म यथा लोके रागैरुन्मील्यते शनैः ।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत्स्यात्संस्कारैर्विधिपूर्वकैः ॥

(पारस्करगृह्यसूत्र आंगिरसवचनम्)

जिसप्रकार लोकमें धीरे २ रङ्ग भरकर चित्रकारीका काम ठीक कियाजाता है, तैसे ही विधिपूर्वक संस्कारोंके करनेसे ब्राह्मणताका उदय होता है ।

गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च ।
नामक्रिया निष्क्रमोऽन्नप्राशनं वपनक्रिया ॥
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः ।
केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहोग्निपरिग्रहः ॥

त्रेताग्निसंग्रहश्चैव संस्काराः षोडश स्मृताः ॥

(पारस्करगृह्यसूत्रे व्यासवचनम्)

गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकरण, कर्णवेध, व्रतादेश, वेदारम्भ केशान्त, स्नान, विवाह; अग्निपरिग्रह और त्रेताग्निपरिग्रह यह सोलह संस्कार कहे हैं ॥

द्वितीय अध्याय

श्राद्ध

श्राद्धक्रिया के द्वारा इस लोकमें निवास करनेवाले कुटुम्बी परलोकवासी जीवोंको सद्गतिके लिये सहायता करते हैं। जो जीव भौतिक देहको त्यागकर प्रेतयोनि को प्राप्त होगए हैं, प्रेत-कार्यरूप श्राद्धके द्वारा उनकी सहायता होती है। मृत्युके अनन्तर अन्नमय कोष श्मशानभूमि में लेजा कर भस्म कर दिया जाता है और भस्म होने से बचा हुआ भाग जलमें वा गङ्गाकी धारमें डाल दिया जाता है। अन्नमय कोषका ध्वंस होनेपर क्रम से प्राणमय कोषका भी ध्वंस होजाता है। यह ध्वंसका कार्य शवदाहके मंत्रादिके द्वारा होता है। भस्म करदेना ही मरे हुए शरीरके ध्वंसका सबसे उत्तम उपाय है और वह मरे हुए तथा जीवित कुटम्बी जीवोंका विशेष प्रयोजनीय है, क्योंकि-जबतक अन्नमय कोषका ध्वंस नहीं होता है, तबतक आकर्षणवश प्राणमय कोष उसके समीप स्थानमें ही रहता है, अतः जीवको भी पृथिवीमें आबद्ध रहना पड़ता है, इसके सिवाय कबर में के मृत शरीरके पाससे उत्पन्न हुई विषैली भाफ उसके सम्बन्धियों के लिये हानिकारक होती है।

दाहके बाद श्राद्ध करने पर द्रव्य, गुण और मन्त्रशक्ति के बलसे मनोमय कोषके सब उपादानों का संस्कार होजाता है।

वर्षके अन्तमें सपिण्डीकरण के द्वारा जीव प्रेतलोकमें से पितृलोकमें जाता है, उसी समयसे वह जीव पितरोंमें गिनाजाता है और भुवर्लोकके सूक्ष्मदेहमें वास करता है। सात पुरुषाओंमेंसे एकके भूर्लोक और शेष छः के भुवर्लोकमें रहने पर वह परस्पर की सहायता करसकते हैं। जब जीव स्वर्गमें पहुँच जाता है तब फिर उसके निमित्त श्राद्ध करनेकी आवश्कता नहीं रहती है।

देशे काले च पात्रे च श्रद्धया विधिना च यत्।
पितृनुद्दिश्य विप्रेभ्यो दानं श्राद्धमुदाहृतम् ॥

(ब्रह्माण्डपुराणम्)

पितरोंके उद्देश्यसे सदा श्रद्धाके साथ देश, काल और पात्र के भेद से जो शास्त्र की आज्ञानुसार योग्य ब्राह्मणों को दिया जाता है, उसको ही श्राद्ध कहते हैं।

कुर्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन च।
पयोमूलफलैर्वापि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ २०३ ॥

[मनु० १३ अ०]

अन्न, जल; दूध वा फल, मूल अपनी शक्ति के अनुसार लाकर प्रतिदिन पितरों के लिये श्रद्धाके साथ श्राद्ध करै २०३

(मनु १३ अ०)

पञ्चभ्य एव मात्राभ्यः प्रेत्य दुष्कृतिनां नृणाम्।
शरीरं यातनार्थीयमन्यदुत्पद्यते ध्रुवम् ॥ १६ ॥
तेनानुभूय ता यामीः शरीरेणेह यातनाः।
तास्वेव भूतमात्रासु प्रलीयन्ते विभागशः ॥ १७ ॥
यथाचरति धर्मं स प्रायशोऽधर्ममल्पशः।
तैरेव चावृतो भूतैः स्वर्गे सुखमुपाश्नुते ॥ २० ॥

(मनु १२ अ०)

दुष्कर्म करने वालों के लिये पञ्चमहाभूतों की तन्मात्राओं से परलोक में और एक प्रेत शरीर पीडा भोगनेके लिये बनता है,

१६ मरणके अनन्तर उस शरीरमें यमकी दीहुई पापोंकी फलरूप अनेकों यातनाओंको दुराचारी जीव भोगते हैं, तदनन्तर वह देह फिर पञ्चतन्मात्राओंमें मिलजाते हैं १७ जीव यदि अधिक धर्म और थोड़ा अधर्म करता है तो पृथिव्यादि सूक्ष्मभूतों के द्वारा शरीरी होकर स्वर्ग में सुख भोगता है ॥ २० ॥

चितामोक्षप्रभृति च प्रेतत्वमुपजायते ।

(गरुडपुराण २ । ५ । ३६)

चितामें जलकर जब जीव देहमुक्त होताहै तबसे ही वह प्रेतहोताहै

वर्षं यावत् खगश्रेष्ठ स्वर्गं गच्छति मानवः ।
ततः पितृगणैः सार्द्धं पितृलोकं स गच्छति ॥
दत्तैः षोडशभिः श्राद्धैः पितृभिः सह मोदते ।
पितुः पुत्रेण कर्त्तव्यं सपिण्डीकरणं सदा ॥

(गरुडपुराण २ । १६ । ६ । ७ । २०)

अब हे खगश्रेष्ठ ! सुनो सालभर तक जीव मार्गमें विचरताहै, तदनन्तर पितरोंके साथ मिलकर पितृलोकमें जाता है । सोलह श्राद्ध अर्पण करनेसे पितर सुखसे रहते हैं, इस लिये पुत्र को पिताका सपिण्डीकरण करना चाहिये ॥

तृतीय अध्याय

शौच

देहकी पवित्रता रखनेके लिए शौचकी आवश्यकता है, उस से स्वास्थ्य तथा देहमें बल रहता है । रोग होते ही जानलो कि किसी प्राकृतिक नियम के पालनमें गड़बड़ी हुई है । ऋषि मुनि जानते थे कि—सकल प्राकृतिक नियम जगदीश्वरके नियम हैं । उसका ही अस्तित्व जहाँ तहाँ प्रकट होरहा है । जीव पञ्चभूतमय शरीरमें बँधाहुआ उसका ही अंश है, इसलिये उन्होंने प्राकृतिक नियमोंके पालन को धर्मकार्य और कर्त्तव्यरूपसे बताया है ।

दीखनेवाला देह और उसका प्रतिरूप प्राणमय कोष, भौतिक सामग्रीसे गठित है, इसकारण भौतिक उपायोंसे ही उनकी शुद्धि करनी चाहिये, किसप्रकार शुद्ध रखना होगा, इस बातको जानने के लिये उनका स्वरूप मालूम होना चाहिये।

दीखनेमें आनेवाला देह अन्नमय कोष हमारे भोजनके अन्न का, पीनेके जल का और चारों दिशा में स्थित पदार्थों के छोड़े हुए अणुओंसे उपादानको लेकर बनता है। चारों दिशामें स्थित पदार्थोंके छोड़े हुए अणुओंसे हमारे शरीर बने हैं, यह बात पहिले तो असम्भवसी मालूम होती है, परन्तु विचार करनेपर ठीक सिद्ध होती है। हमारा देह मृत पदार्थोंका बना नहीं है, मृत पदार्थ भी जगत्में नहीं हैं। सकल उपादानके पदार्थ अतिसूक्ष्म सजीव परमाणुओंके समूहसे गठित हैं सजीव अणु भी सजीव परमाणुओंकी समष्टि हैं। धूलके एक कणमें असंख्यों सजीव अणु हैं, वह सब सूक्ष्म जीवोंकी श्रेणी हैं; उनमें दूरबीनसे देखने योग्य जीवाणु (Microbe) नामक जीव ही देखनेमें आने वाले जीवोंमें भरे हुए हैं। ऐसे अनेकों जीवाणु और अतिसूक्ष्म सजीव अणुओंसे वायुमण्डल भरा हुआ है हमारे देह और अन्य समस्त वस्तुएँ भी ऐसे ही जीवाणु और सजीव अणुओंके समूह रूप ही हैं। पत्थर, पेड़, पशु, मनुष्य घरमेंके सामान और पहरने के वस्त्र आदि सकल पदार्थोंमें ऐसे ही असंख्यों अणु हैं, वह बराबर रातदिन तैसे ही असंख्यों अणुओंको ग्रहण करते हैं छोड़ते हैं। हमारे समीपके और रचित पदार्थोंके साथ ऐसे अणुओंका विनियम [अदला बदला] रात दिन चलता रहता है। यदि हम स्वस्थ होनेकी वासना करें तो हमको शुद्ध अणुओंका ग्रहण और अशुद्ध अणुओंका त्याग करना चाहिये शौचरूपी नियमके द्वारा हम ऐसा करनेके उपायको जान सकते हैं।

हम जो भोजन करे, उसके पदार्थ भी पवित्र होने चाहियें, सब

ही वस्तुएँ उत्तरोत्तर या तो जीवनशक्तिको प्राप्त करती हैं, नहीं तो जीवनका ह्रास होनेसे मृत्युके मुखकी ओरको बढ़ती चली जाती हैं, या तो उनके गठनका कार्य चलता रहता है, नहीं तो ध्वंसके कार्यका प्रारम्भ होजाता है, पवित्र भोजनके पदार्थोंकी जीवनी वृद्धिकी ओरको होती है। नये पत्ते, फल मूल, धान्य आदि जीवनी शक्तिसे भरे हुए हैं हम उनको भोजन करके अपनी जीवनशक्तिको बढ़ाते हैं, जो यातयाम (बासी) होता है वह अपवित्र होता है, क्योंकि-उसकी जीवनीका अभाव होने लगता है मांस अपवित्र है, क्योंकि उसमें जीवन नहीं है, अतएव वह सड़ने लगता है। मांसभक्षण करनेसे देह पुष्ट होनेपर भी उद्भिद्-भोजी देहकी अपेक्षा वह रोगोंके बहुत समीप होता है; मांसभक्षी का घाव सहजमें अच्छा नहीं होता है, उसको ज्वर भी बड़े ही वेगसे आता है।

तरल द्रव्योंमें शुद्धजल ही सबसे श्रेष्ठ है। चाह आदि औषधियोंसे सिद्धजल थोड़ा सा पीनेमें हानि नहीं, किंतु कुछ उपकार ही होता है। दूध सब प्रकारसे पवित्र—पीने योग्य और आहार की वस्तु है। जिस किसी भी पीनेके द्रव्यमें सुराका मेल है वह अपवित्र और निःसन्देह शरीरको बड़ाभारी हानिकारक है। झाग उगलनेवाली सुरामें सड़नेका आरम्भ होता है, इस लिए वह देहपेशीको और मस्तिष्कको बिष समान हानिकारक है। विशेष कर गरम देशमें तो इसकी समान हानिकारक दूसरा पदार्थ है ही नहीं, इससे असमय बुढ़ापा और मृत्यु तक होजाती है। इस देशमें अधिकताके साथ व्यवहारमें आने वाली और स्वास्थ्यकी हानिकारक भाँगके जलको भी अतीव अशुचि और जड़ताको उत्पन्न करदेनेवाली जानना चाहिये।

शुद्ध खान पानकी वायु भी शुद्ध ही होनी चाहिये। हम श्वास छोड़ते समय 'कार्बनडाइअक्साइड' नामक गैसको छोड़ते हैं वह

भाफ मूर्छित करदेनेवाली है. यदि हम थोड़े चौडे स्थानमें घिरे हुए रहते हैं तो उस स्थानकी वायु इस भाफसे दूषित होकर श्वास लेनेके अयोग्य होजाती है, विशेषकर श्वास छोड़ते समय हमारे देहके भीतरसे दूषित अणु छूटते हैं, यदि वह शुद्ध वायु के साथ दूसरे स्थानको नहीं चलेजायँगे तो फिर श्वास लेनेपर दुसराकर श्वासकी नलीमें को जाकर शरीरमें विष फैला देंगे।

देहगठनके लिये केवल विशुद्ध उपादानको ग्रहण करनेसे ही काम नहीं चलेगा, किंतु देहके ऊपरका भाग भी स्नान आदिके द्वारा उत्तमरूपसे स्वच्छ रखना चाहिये। प्रतिदिन अधिक नहीं तो एक बार तो स्नान करना ही चाहिये और स्नानके समय अच्छी तरहसे शरीरको पोंछना चाहिये, ऐसा करनेसे शरीर परसे धूल आदिके कण दूर होनेपर चमड़ा साफ रहकर अपने कामको ठीक२ देगा। हाथ पैर या शरीरका कोई भी भाग अपवित्र हुआ मालूम हो तो उसको उसी समय धोना चाहिये। और ऐसा करनेके पहिले तथा पीछे हाथ पैर धोना नहीं भूलना चाहिये बिना धुले हाथसे भोजन करनेपर भोजनके पदार्थ खराब होसकते हैं। भोजन करके नित्य ही हाथ पैरोंको अवश्य धो डालना चाहिये जो वस्त्र देहसे चिपटा हुआ रहै, उसको भी नित्य धोना चाहिये।

हिन्दू सदासे ही बाहरी जगत्‌को अन्तर्जगत् मानते आये हैं, इसलिये उनकी दृष्टिमें बाहरी शुद्धिकी समान भीतरी शुद्धि भी परम आवश्यक मानी गई है। बाहरी शुद्धिके साथ २ भीतरी शुद्धिके लिये मन्त्र आदिका जप करना भी वह आवश्यक समझते रहे हैं, उनका हरएक काम धर्मबन्धनमें बँधा हुआ है।

पाठक अब समझ गये होंगे कि—ऋषि मुनि शुद्धिका क्यों आग्रह करते थे। जिस पुरुषका देह साफ नहीं रहता और कपड़े मैले रहते हैं, उसके समीपकी वायु अपवित्र कणोंसे भर जाती है, इसकारण उसके समीपमें रहने वाले उस विषैले वायुसे रोगी हो

सकते हैं। केवल अपने लिये नहीं, समीपके प्राणी और वस्तुओं के लिये भी हमारे शौच (पवित्रता) की आवश्यकता है मलिन पुरुष, मलिन वस्त्र और मलिन घरको भी विषका आश्रय स्थान और समीपके पुरुषोंके लिए अमंगलकारक जानो।

प्राणमय कोषकी पवित्रता उसके भीतरी वैद्युतिक सोते पर निर्भर है। यह समीपकी वस्तुओंकी तड़ित् शक्तिके द्वारा परिचालित होती है, इसलिये हमको इस विषयमें सावधान होना चाहिये। प्याज लहसुन आदि कितने ही उद्भिद्ध पदार्थ अन्नमय कोषको हानिकारक न होने पर भी प्राणमय कोषकी बड़ी हानि करनेवाले हैं। इनकी वैद्युतिक शक्ति मांसकी वैद्युतिक शक्तिसे अधिक हानिकारक है शराबसे भी प्राणमय कोषको बहुत हानि पहुँचती है। दूसरेके प्राणमय कोषके द्वारा भी अनिष्ट होनेका सन्देह है, अपने सूक्ष्म शरीरके द्वारा भी प्राणमय कोषका इष्ट अनिष्ट होजाता है, इसलिये दूसरेका सूक्ष्मशरीर हमारे सूक्ष्मशरीर मेंको कार्य करके प्राणमय कोषका इष्ट अनिष्ट करसकता है, अतः कुसंगको सर्वदा त्यागना चाहिये। सूक्ष्मशरीरकी पवित्रता देही की वासना और संकल्प आदिकी पवित्रतासे होती है और भौतिक देहकी पवित्रता भी बनी रहती है। यदि जीवकी वासना और संकल्प अपवित्र हों तो उसका अन्नमयकोष आदि भी पवित्र नहीं रहसकता। यदि कोई शौच आचारके नियमोंका पूरा २ पालन करें तथापि वह यदि घमंडी, क्रूर कामी तथा संदिग्धचित्त हो तो बाहरी शुद्धिके द्वारा अन्तःशरीरको पवित्र करनेकी चाहे जितनी चेष्टा करनेपर भी उसका अन्तःशरीर अधिकतर अपवित्र ही होता चला जायगा, देवता और ऋषियोंकी दृष्टिमें ऐसा पुरुष सदा अपवित्र है।

दूरादावसथादन्नमूत्रं दूरात्पादावसेचनम्।

उच्छिष्टान्नं निषेकञ्च दूरादेव समाचरेत् ॥ १५१ ॥

(मनु० ४ अ०)

पेशाव और पैर धोना सोने बैठनेकी जगहसे दूर करना चाहिये, जूठन और न्हाया हुआ जल न छुए ॥ १५१ ॥

आचम्य प्रयतो नित्यमुभे सन्ध्ये समाहितः ।
शुचौ देशे जपञ्जप्यमुपासीत यथाविधि ॥ २२२ ॥

(मनु० २ अ०)

दोनों सन्ध्याकालमें पहिले सावधानीके साथ आचमन करें, फिर पवित्रस्थानमें बैठकर मन्त्रोंको जपता हुआ विधिपूर्वक उपासना करे ॥ २२२ ॥

उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात् समाहितः ।
भुक्त्वा चोपस्पृशेत्सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत् ॥५३॥

(मनु० २ अ०)

द्विजोंको चाहिये कि हाथ पैर धो एकाग्र होकर भोजन करें और फिर जलसे आचमन करके इन्द्रियोंको धोवें ॥

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनोवार्युपाञ्जनम् ।
वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तॄणि देहिनाम् ॥१०५॥

(मनु० २ अ०)

ज्ञान, तप, अग्नि, आहार, मट्टी, मन, जल, उपाञ्जन, वायु, कर्म सूर्य और काल, यह मनुष्यको पवित्र करनेवाले हैं ।१०५।

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति ॥ १०० ॥

(मनु० ५ अ०)

शरीर जलसे शुद्ध होता है, मन सत्यसे पवित्र होता है, विद्या और तपसे जीवात्मा शुद्ध होता है तथा ज्ञानसे बुद्धि शुद्ध होती है

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह वर्त्तते ॥ ३८ ॥

(गीता ४ अ०)

इस संसारमें ज्ञानकी समान पवित्र दूसरी वस्तु नहीं है ३८

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं नियच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥
(गीता ९ अध्याय)

घोर दुराचारी होनेपर भी जो अनन्य मनसे मेरी शरण लेता है, उसको निःसन्देह साधु जाने, क्योंकि–वह ठीक कर्त्तव्यका पालन करता है ३० वह शीघ्र ही धर्मात्मा होकर शान्तिपदको पाता है, हे अर्जुन ! मेरे भक्तपर कभी विपत्ति नहीं आती है ३१

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥
(गीता १८ अ०)

इन्द्रियोंके सकल धर्मोंको त्यागकर श्रद्धाके साथ एक मेरी ही शरण ले, शोक न कर तब मैं निःसन्देह तुझको पापमुक्त करूंगा ॥ ६६ ॥

❋ चतुर्थ अध्याय ❋

पञ्चयज्ञ

हम यज्ञविधिके वर्णनमें कहचुके हैं, कि–मनुष्यका आत्मत्याग ही प्रधान–यज्ञ है सनातनधर्ममें इस धर्मके अनुगामियोंके लिए जो उपयोगी नियम बनाए हैं इस समय हम उनकी ही आलोचना करेंगे ।

शास्त्रमें जितने प्रकारके यज्ञ लिखे हैं. इस समय उन सबका वर्णन न करके केवल नित्य कर्त्तव्य पञ्चमहायज्ञके विषय पर कुछ कहेंगे। उन पञ्चयज्ञोंके नाम यह हैं ऋषियज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ नृयज्ञ और भूतयज्ञ । इन पाँचोंकी बाहरी क्रिया और अंतर्लक्ष अर्थ है अंतर्लक्ष्यार्थके द्वारा यज्ञकी मुख्य शक्ति समझमें आती है इस समय उस अर्थको समझनेके लिये ही चेष्टा करना है ।

ऋषियज्ञकी बाहरी क्रिया वेदको पढ़ना और पढ़ाना है प्रति

दिन सबको ही किसी पवित्र ग्रन्थका पाठ करना चाहिये ऐसा करनेसे धीरे २ उसको आत्मज्ञानकी प्राप्ति करानेवाले ज्ञानका उदय होता है, उससे पुरुष अपनी दशा और कर्त्तव्यको समझ सकता है। प्रत्येक पुरुषको उचित है कि-अपनी अपेक्षा अज्ञानी को ज्ञानका उपदेश करें। इसीलिये मनुजीने इस यज्ञका नाम अध्यापन रक्खा है। हरएक बालकको प्रतिदिन यह यज्ञ करना चाहिये। मन्त्र उपनिषद्, भगवद्गीता अनुगीता, हंसगीता या अन्य किसी पवित्र ग्रन्थके दो चार श्लोकोंका तो मन लगाकर पाठ वा विचार करना ही चाहिये पाठके कम बढ़ती परिणामके अनुसार पढ़ेहुए विषयका निश्चित ध्यानही अधिक फलप्रद होता है अंतर्लक्ष अर्थ यह है कि-त्यागके लिए ही अध्यापनकी आवश्यकता है जो कुछ सीखें सो दूसरेके लिये।

देवयज्ञकी बाहरी क्रिया होम करना है। देवता प्रकृतिके जिन सकल कार्योंके द्वारा हमारी सहायता करते हैं उसके स्मरणके लिये ही होम करना है अर्थात् उनसे पाये हुए द्रव्यका प्रतिफल रूप हमारा अपने अधिकृत द्रव्यका अर्पण करना। अंतर्लक्ष अर्थ यह है कि--इस जड़ातीत लोकसमूहके साथ जो हमारा सम्बन्ध है उसका अनुभव करके सब लोकोंकी सापेक्षताका अनुभव करना। सब प्राणियोंमें समदृष्टि रखना ही उसका चरम फल है।

पितृयज्ञकी बाहरी क्रिया तर्पण है। अतीत पुरुषाओंके हम महाऋणी हैं इस बातको स्वीकार करना इसका अंतर्लक्ष अर्थ है। जो हमसे पहिले पृथिवी पर आकर बड़े परिश्रमके साथ पृथिवीको आजकलकी उपयोगी बनागए हैं उनका कृतज्ञ होना जो अपनेको पूर्व पुरुषोंका ऋणी नहीं समझते हैं, उनमें मनुष्यता ही नहीं है।

नृयज्ञकी बाहरी क्रिया अतिथिसेवा है। आर्योंके वंशधरोंको

प्रतिदिन अपनी अपेक्षा दरिद्रोंको यथाशक्ति अन्नका दान देना चाहिये। इसका भीतरी लक्ष्य यह है कि—सबको चाहिये कि—दरिद्रोंका पोषण करें, भूखोंको अन्न दें, वस्त्रहीनोंको वस्त्र दें, गृहहीनोंको आश्रय दें अर्थात् दुःखितोंका दुःख दूर करें, क्यों कि—धनी पुरुष दरिद्रोंके भण्डारी हैं।

भूतयज्ञकी बाहरी क्रिया-भोजनसे पहिले प्राणियोंके लिये भूमिमें अन्न देना और भोजन कर चुकने पर श्वानादिके लिये बचीहुई जूठनको उपयुक्त स्थानपर रख देना। और गूढ़ अभिप्राय यह है कि—हम सबोंको अपने व्यवहार अन्य जीवोंके लिये दया-पूर्वक करने चाहियें, क्योंकि सब जीव परस्पर सापेक्ष हैं।

यह पञ्चयज्ञ मनुष्यको उसके निकटके बड़े, समान और हीन प्राणियोंके साथ व्यवहारकी शिक्षा देते हैं। इनका अभ्यास होनेपर जातीय समाज और परिवारकी उन्नति सुख और साम्य-भावके साथ स्थापित होसकती है। इसके द्वारा जीवनचक्र ईश्वर के अभिप्रायके अनुसार चलता है और जगत्का क्रमविकाश ठीक होता है। इसके द्वारा मनुष्य सीखता है कि मैं अकेला नहीं हूँ हम अनेक हैं और परस्पर सबका सम्बन्ध है तथा सर्व साधारणके सुख और उन्नतिपर ही उसका सुख और उन्नति निर्भर है

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ ७० ॥
(मनु० अ० ३)

अध्यापन-ब्रह्मयज्ञ, तर्पण-पितृयज्ञ, होम-देवयज्ञ, बलि-भूतयज्ञ और अतिथिपूजन—नृयज्ञ कहाता है॥ ७० ॥

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दैवे चैवेह कर्मणि।
दैवे कर्मणि युक्तोऽपि बिभर्तीदं चराचरम्॥ ७५ ॥
(मनु अ० ३)

पुरुषको स्वाध्याय और दैवकर्म प्रतिदिन करना चाहिये, जो

दैवकर्म करता है वह चराचर विश्वको पोषण करता है ॥७५॥

ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा।
आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ॥ ८० ॥
स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन् होमैर्देवान् यथाविधि।
पितॄन् श्राद्धेन नॄनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा ॥ ८१ ॥

(मनु० अ० ३)

ऋषि, पितर, देवता, अतिथि और भूत, सदा गृहस्थ कुटम्बियोंसे आशा रखते हैं, यह जानकर उनकी आशाको पूर्ण करना चाहिये ॥ ८० ॥ स्वाध्यायसे ऋषियोंको, यथाविधि होम करके देवताओंको, श्राद्ध करके पितरोंको अन्नदानसे मनुष्योंको और भूतबलिसे सकल भूतोंको प्रसन्न करै ८१

❀ पञ्चम अध्याय ❀

उपासना।

पञ्चयज्ञोंके द्वारा धर्मपिपासु मनुष्यकी पिपासा शान्त नहीं होती है। ईश्वरके साथ सम्बन्ध स्थापन करनेको उसकी बहुत ही वासना होती है, उसके क्षुद्र प्राण जगत्प्राणके अंश हैं, उन जगत्प्राणकी पूजा किये बिना मनकी तृप्ति नहीं होती है। जब परब्रह्मतत्त्वका अभ्यास करते हुए, जगत्के हित और लोकशिक्षा के लिये महाभारत तथा ब्रह्मसूत्रकी रचना करके भी व्यासदेवके मनको शांति प्राप्त नहीं हुई तब वह नारदजीकी सम्मतिसे ईश्वर के गुणोंकी कीर्त्तन करनेमें प्रवृत हुए, उन्होंने श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌की लीलाओंका वर्णन करके शान्ति पाई।

उपासनाके द्वारा ईश्वरमें प्रेमभक्ति और उसको पानेकी इच्छा प्रकाशित होती है, ईश्वरके साथ मिलनेकी वासना बहुत ही होती है। क्रमसे जीवात्मा परमात्माका अभेदज्ञान उत्पन्न

होता है, उसकी पूर्णताके श्रुतिगानका नाम ही उपासना है। अपनेको अपूर्ण जानकर; उनके प्रेमकी प्रार्थना, उनकी शक्ति की उपलब्धि, उनकी प्रकृतिका ध्यान और उनके स्वरूपका बोध होनेके लिये अत्यन्त अभिलाषा आदि, अनेकों व्यापारोंके साधनकी अवस्था भी उन्नति पाने लगती है।

चाहे साधारण ग्रामीण किसान हो, चाहे बड़ा भारी दार्शनिक पण्डित हो, उसके प्राणमें जिस समय ब्रह्मज्ञानकी लालसा होती है, उसी समय उपासनाके द्वारा उसकी बड़ी इच्छा प्रकाशित हो जाती है। साधारण किसानसे तत्त्वज्ञानी पण्डित तक सब ही ब्रह्मके जन्य हैं, यह ही उपासनाका प्रयोजन है। यह उपासना साधकके भाव और ज्ञानके अनुसार भिन्न २ प्रकारकी होनेपर भी वास्तवमें एक ही है, इसमें कुछ संदेह नहीं है।

अव्यय सर्वमय उपासनाकी वस्तु नहीं है। उपासना करते समय उपास्य पदार्थके बोधके लिये गुणकी आवश्यकता है। गुण के न होनेसे मन एकाग्र ही कैसे होगा। और भावका उदय भी कैसे होगा?। सगुण ब्रह्म जिसको कि-ईश्वर कहते हैं, उसकी ही उपासना होसकती है, उसकी ही स्तुति और ध्यान किया जासकता है। उसको ही शिव वा विष्णु, महादेव वा नारायण दुर्गा वा लक्ष्मी, गणेश, इंद्र, अग्नि सरस्वती अथवा राम, कृष्ण बुद्ध आदि अवताररूपसे भावना किया जासकता है। परन्तु चाहे जिस नाम वा मूर्त्तिका अवलम्बन करके उपासना करो उससे उस एक ईश्वरकी ही उपासना होती है।

बालकोंके मनमें अनेक बार यह सन्देह होता है कि—किस कारण शास्त्रमें कहीं शिवको और कहीं विष्णुको परमपुरुष कहा है? किस कारण एक पुराण एककी प्रधानता बताता है तो दूसरा पुराण दूसरेकी प्रधानताका वर्णन करता है?। यह सब उस एक ईश्वरके ही रूपभेद हैं, सब साधक एक ईश्वरकी ही

पूजा करते हैं, जिस मूर्त्तिमें उसकी भक्ति करना चाहते हैं उस मूर्त्तिमें ही उसकी पूजा करते हैं। परन्तु वह मूर्त्तिकी पूजा नहीं करते हैं, मूर्त्ति तो केवल परिच्छद रूप है। भक्त उस परिच्छदमें ढके हुए भगवान्की पूजा करते हैं स्त्री पतिकी भक्ति करती है, उसकी पोशाककी भक्ति नहीं करती है तथापि पोशाक पतिको प्रिय होती है। इसलिये उसमें भी प्रेम दिखाती है। भक्त ईश्वरके प्रेम सुन्दरता और शक्ति आदिका पक्षपाती होता है जिस मूर्त्ति में यह सब बातें प्रकाशित होती हैं उस मूर्त्तिमें ही उसकी पूजा करता है। हम क्षुद्र होनेके कारण यद्यपि उसकी अनन्त शक्ति की बहुत थोड़ी धारणा करसकते हैं, तथापि वह सब उसकी ही हैं।

इस तत्त्वको समझनेके कारण ही भिन्न २ धर्मावलम्बी और एक ही धर्ममेंके भिन्न २ सम्प्रदायवाले निर्बोधोंकी समान परस्पर विवाद करते हैं। सब एक ईश्वरकी ही उपासना करते हैं केवल नाम और परिच्छदका ही भेद है उपास्य वस्तुमें कुछ भेदभाव नहीं है।

पूजा उपासनाका एक साधारण सरल भेदमात्र है पूजामें चित्र या मूर्त्तिका प्रयोजन होता है, मन्त्र पढ़ेजाते हैं और पुष्प आदि समर्पण किये जाते हैं, यह सब पूजाकी बाहरी सामग्री है भीतरी सामग्री प्रेम और भक्ति है, जिसके द्वारा साधकका चित्त रूपसे सत्पदार्थमें लगता है। पूजाके लिये कभी कुलदेवताकी और कभी गुरुकी आज्ञानुसार इष्टदेवताकी मूर्त्ति बनाई जाती है।

उपासना कहनेसे ध्यान, नित्यसन्ध्या आदि अनेक पूजा के अंगोंका बोध होता है, यह सब सनातनधर्मावलम्बियोंको सावधानीके साथ करने चाहिये सन्ध्या दो प्रकारकी है, एक वैदिक और दूसरी तान्त्रिक, बालकोंको अपने वर्ण और कुलाचारके अनुसार करनी चाहिये। पहिले योग्य गुरुसे उसको सीखें फिर नित्य उसको करें। ध्यान करनेकी विशेष अवस्था

है, बालकोंके लिये नहीं है, युवावस्थामें पहुँचने पर आरम्भ करना चाहिये।

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितम्,
न शोभते ज्ञानमयं निरञ्जनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे,
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥ १५ ॥
(श्रीमद्भागवत १।५)

भगवान्‌की भक्तिसे हीन अपार, नैष्कर्म्य, निरञ्जन, सुविमल ज्ञान भी शोभा नहीं पाता है। फिर वह सकाम कर्म ही कैसे शोभित होसकता है? कि-जो अपवित्र मनसे किया जाय, या जो सनातन भगवान्‌को अर्पण नहीं किया है ॥ १५ ॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्र समचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥
(गीता १२ अ०)

जो पुरुष सबमें समबुद्धि रखकर, सब इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए अनिर्वचनीय, रूपादिहीन, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, अविनाशी कूटस्थकी चिरकाल तक स्वस्थताके साथ उपासना करते हैं, सकल प्राणियोंका हित करनेवाले वह मुझको पाते हैं ॥ ३,४ ॥ जिनका चित्त अव्यक्तमें आसक्त है उनको बड़े क्लेश सहकर सफलता होती है, क्योंकि हे पार्थ! अव्यक्तमें निष्ठा बड़ी कठि-

नतासे होती है ॥ ५ ॥ परन्तु जो भक्तिमें भरकर मुझको कर्म अर्पण करके मेरी आराधना करते हैं और अनन्य योगसे मेरा ध्यान करते हैं, उनकी समान और भक्त नहीं है ॥६॥ हे पार्थ! मुझमें चित्त लगानेवाले उन पुरुषोंका मृत्यु संसारसागरसे उद्धार करनेमें मैं देर नहीं करता हूँ ॥ ७ ॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

(गीता १८ अध्याय)

हे अर्जुन! ईश्वर सकल प्राणियोंके हृदयमें स्थित होकर यंत्र पर चढ़ी हुई पुतलियोंकी समान सकल जीवोंको अपनी माया से घुमाता रहता है६१ हे अर्जुन! सब प्रकारसे उसकी ही शरण लो तब उसके अनुग्रहसे सनातन परमशान्त स्थानको पाओगे॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

(गीता ४ अ०)

हे अर्जुन! जो जिस भावसे मेरी भक्ति करते हैं, मैं भी उन को तैसा ही मानता हूँ; जो इस मेरे मार्गका आश्रय करते हैं, वह सब मनुष्य मुझमें ही आकर मिल जाते हैं ॥ ११ ॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

(गीता ९ अध्याय)

जो भक्त श्रद्धाके साथ जिस २ मूर्तिमें मेरी पूजा करना चाहता है, उस मूर्ति पर ही मैं उसकी श्रद्धाको अचल कर देता हूँ २१

—०—

षष्ठ अध्याय

चार आश्रम

जैसे हरएक व्यक्तिमें परस्पर भेद है तैसे ही प्रत्येक जातिमें जातिगत भेद है। पूर्वकालमें हिंदूजातिका क्रम और विभाग प्रकृतिसिद्ध था, सनातनधर्मकी विधि ही उसका कारण है, जिस विधिके बलसे यह अति उन्नत, विकसित और साम्यभावयुक्त जातिरूपमें परिणत हुए हैं। यह सब भाव सनातनधर्मावलम्बियों के इतने स्वाभाविक हैं कि-भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने कहा है कि-

'समत्वं योग उच्यते।' साम्यभाव ही योग है।

वेदमें मनुष्यजीवनको जिस उदार भावसे ग्रहण किया है, वही इस जातिकी प्रकृतिगत विशेषताका हेतु है। समस्त पदार्थ ही आत्माके लिये रहे हैं, सब ही आत्माकी इच्छाके बलसे हुए हैं। उसकी अनेकों अवस्थामें भोगकी इच्छा ही इस सृष्टिको उद्देश्य है। उसको जगत्में अपनी शक्तिका विकाश करनेकी इच्छा और स्वप्रकाश बाहरी जगत्का आधिपत्य करनेकी वासना हुई। वह अनन्तकालमें अन्तर्जगत्का शासक है। वह अजर, अनन्त है, अतः उसमें व्यस्तता नहीं है। अपनी प्रत्येक अवस्था, जिसमें क्रमशः अभिज्ञता पावै और इसप्रकार सुशृं-खलामें और एक सूत्रमें अभिव्यक्त हो यही उसकी इच्छा है। ईश्वरने हमारी इस पृथिवीके अतिनीचेके विभागसे ही क्रम-विकाशका निर्णय किया है। उद्भिजोंमें बीज मूल, डंडी, पत्ते फूल फल सुन्दर नियमके साथ क्रम २ से प्रकाशित होते हैं। हरएकका उपयोगी स्थान, काल और सुन्दरता है तिसीप्रकार जीवराज्यमें भी बालकपन, किशोर अवस्था, जवानी, प्रौढ़ता और वृद्धावस्था सुन्दर रीतिसे संघटित होते हैं। मनुष्यमें इस क्रम को उल्लंघन करनेकी और उसको बदल देनेकी शक्ति नहीं है

परन्तु मनुष्य देहमें स्थित जीवात्मा अपनी अविकाश अवस्थाके विषै भौतिक आवरणमें अंधा होकर अनियमित रूपसे अनेकों ओरको जानेकी वासना करता है। मनोकामनाके वश में होकर उसको अनेकों समय अधिकारसे बाहरकी चर्चामें प्रवृत्त करता है। अर्थात् जीवात्माकी जो अवस्था है,उससे अन्य अवस्थाके कार्यमें नियुक्त करनेका उद्योग करता है। इससे हर एक अवस्थाके क्रम विकाशमें गड़बड़ी पड़ती है। बालक जवान होगा, जवान प्रौढ़ता पावेगा, परन्तु वृद्ध फिर भी जवानीका सुख भोगना चाहता है, इसके फलसे केवल उसकी शांति नष्ट होती है और उसके बहुतसे कर्त्तव्य अधूरे रहजाते हैं।

ऐसी उच्छृङ्खलताका शासन करनेके उद्देश्यसे महर्षियोंने पुरातन आर्यसंतानोंके लिये जन्मसे मृत्यु पर्यन्त हरएक व्यक्तिका पृथक्२ कर्त्तव्य नियत करदिया है और जीवात्माके समग्र क्रमविकाशके लिये असंख्य जन्मोंके कर्त्तव्य मार्ग बताये हैं। इन दोनों मार्गमें प्रत्येकके चार विभाग हैं, एक जीवके देहको पानेके समयसे ले कर देहको त्यागनेके समय पर्यन्त समयके पक्षमें यह चार विभाग चार आश्रम और जीवके पूर्णविकाश पक्षमें यह चार विभाग चार वर्ण नामसे प्रसिद्ध हैं, इस अध्यायमें हम आश्रमके विषय की ही आलोचना करेंगे। आश्रम चार हैं-ब्रह्मचर्य वा छात्रजीवन गार्हस्थ्य या गृहीजीवन, वानप्रस्थ वा निर्जनवासका समय और संन्यास वा सर्वत्यागकी अवस्था। इनमेंसे किसी आश्रममेंभी मनुष्यको दूसरे आश्रमका कर्त्तव्य कार्य नहीं करना चाहिये, छात्रजीवनमें गृहस्थ नहीं होना चाहिये और न वानप्रस्थ वा संन्यासका ही अवलम्बन करना चाहिये; वानप्रस्थको गृहस्थ होनेकी इच्छा नहीं करना चाहिये और संन्यस्तको वानप्रस्थाव लम्बीकी समान निर्जनवास नहीं करना चाहिये। प्रत्येक आश्रम के कर्त्तव्यके पालनमें आनन्द है,उसका यथोचित अनुष्ठान करने

से जीवात्माका क्रमविकाश सुन्दर रीतिसे सधता है। आश्रमधर्म के पालनमें लापरवाही करनेसे विकाशमें विलम्ब होता है।

वर्तमान समयमें प्राचीनकालके नियमानुसार आश्रमधर्मका पालन होना बहुत ही कठिन है। समय बहुत ही पलटा खागया है, परन्तु यदि हम इन चारों आश्रमोंके कर्त्तव्यके मुख्य अर्थ पर ध्यान दें तो आजकल भी सुन्दर शृङ्खलाके साथ कार्य चलसकता है।

उपनयनके समयसे द्विजत्वको पाकर छात्रजीवनका प्रारम्भ होता है उस छात्रजीवनमें बालकोंको कुछ एक गुणोंको अपने अधीन करलेना चाहिये और कष्टसहिष्णु बनना चाहिये।

वस्त्र आदि सरल साधारण और होने चाहिये, इससे शरीर बलिष्ठ और स्वस्थ होगा। गुणोंको पानेके लिये ब्राह्ममुहूर्त्त में उठकर स्नान का अभ्यास करना चाहिये, परिमित भोजन करना चाहिये अधिक परिश्रम करना चाहिये, भोगविलास और आलस्यको दूर करना चाहिये। जो बालक इन नियमोंका कुछ दिनों पालन करता है उसके साथ जो बालक सूर्योदय तक सोता है, अधिक भोजनमें प्रीति रखता है, मिष्टान्न और भारी पदार्थों को खाता है, शारीरिक परिश्रम करनेसे बचता है, बहुत समयतक कोमल शय्या पर ही लेटा रहता है उसकी समता करके देखनेपर पहिला कर्मठ, बली, साहसी और स्वास्थ्ययुक्त बली पुरुष होगा और दूसरा स्थूलशरीर आलसी वा अत्यन्त दुर्बल और सदा रोगी होगा।

छात्रको, परिश्रम सहलेनेका अभ्यास, गुरुजनोंकी आज्ञानुसार वर्त्ताव करना, नम्रता और कार्य करनेमें तत्परता होना चाहिये। यह समय ही जीवन-संग्रामके लिये प्रस्तुत होनेका है जिससे कि-बड़ा होकर कामका मनुष्य होसके, इस लिये परिश्रम

करके ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। गुरुजनोंके बहुत दिनोंके अनुभव से उत्पन्न हुए ज्ञानके द्वारा परिचालित होकर अपनी उन्नति करनेका नामही उनका आज्ञाकारी होना है। ऐसे करनेसे पहिली अवस्थामें अनेकों कष्टोंसे रक्षा होती है। जो पुरुष बड़ोंकी आज्ञा का पालन करना जानता है, वह ही शासन करनेके योग्य होता है। नम्रताके गुणसे उसकी शीघ्र ही उन्नति है, क्योंकि–सब ही नम्र पुरुष की हर प्रकारसे सहायता करनेको तयार होते हैं और विद्यालयमें तथा परिवारमें कर्मतत्परताका अभ्यास कर लेने पर अन्तको मनुष्यसमाजके लिये जीवन दान करना सीखना होता है।

छात्रजीवनकी चिन्ता और कार्यमें पवित्रता होनी चाहिये, शरीर मन दोनोंसे ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये। इस समय से ही अपनी चिंताको दमन करना सीखना चाहिये। क्योंकि–जो अपवित्र होकर चिंता नहीं करता है उसको अपवित्र कार्य नहीं करना पडता है। उसको स्त्री पुरुषके भेदकी चिंता नहीं करना चाहिये और वृथा चिन्ताको भी मनमें स्थान नहीं देना चाहिये। जो मनसे और शरीरसे पवित्राचारी होता है वह ही गार्हस्थ्य जीवनको सुखसे बितासकता है, छात्र ब्रह्मचारी रहैं ब्रह्मचर्य ही उसका कर्त्तव्य है। प्राचीनविधिको लाँघकर छात्र अवस्थामें विवाह होजानेसे असमय पर बुढ़ापा, दुर्बलता पीड़ा और जातीय अधःपतन होता है।

विवाहके अनन्तर ही गार्हस्थ्य जीवनका आरम्भ होता है युवा अपनी शिक्षाको समाप्त करके गृहस्थके भारको स्वीकार करनेके योग्य होता है उसी समय विवाहित होकर इस आश्रम को ग्रहण करना चाहिये। सब आश्रमोंमें यह आश्रम अधिक प्रयोजनीय है, क्योंकि-गृहस्थ और आश्रमोंका भरण पोषण करता है। मनुसंहितामें लिखा है—

यथा वायुं समाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्त इतराश्रमाः ॥
(मनु० ६ अ० ७७)

अर्थात्-जैसे वायुका आश्रय करके सकल जीवजन्तु जीवित रहते हैं, तैसे ही गृहस्थ आश्रमके आश्रयसे और आश्रमवाले जीवन धारण करते हैं।

समाज और परिवारकी उन्नति तुल्यरूपसे योग्य गृहस्थके ऊपर निर्भर है । उनका सुख और सम्पत्ति गृहस्थके ही अधीन है । श्रेष्ठ पति, श्रेष्ठ पिता, श्रेष्ठ स्वामी और श्रेष्ठ स्वभाववाले देश वासी मनुष्योंके शिरोमणि हैं निःस्वार्थता, सहानुभूति कोमलता मिताचार, पवित्रता, दूसरोंकी सहायता करना, विज्ञता परिश्रम, न्यायपरायणता और दयालुताको सीखनेके लिए गृहस्थाश्रम योग्य पाठशाला है, गृही जिन गुणोंके होनेसे उत्तम गृहस्थ कहाता है । संन्यासीके सकल गुण होनेसे वह सच्चा साधु कहा सकता है, उत्तम गृहस्थ जैसा अपने परिवारमें और समाजमें व्यवहार दिखाता है, वैसा ही व्यवहार जो सबके साथ दिखाता है उस को ही साधु वा संन्यासी कहते हैं । गार्हस्थ्य जीवनका ठीक २ व्यवहार न होनेसे हमारा सामाजिक जीवन क्रमसे हीन होता चलाजाता है। इस बाल्यविवाहके युगमें लोगोंके छात्र जीवन और सांसारिक जीवन दोनों हीको हानि पहुँचरही है। इससे ही हमारे गार्हस्थ्य जीवनमें पहिले युगोंकी समान गंभीरता और महत्त्वका पता नहीं है। छात्रजीवनमें विवाह होजानेसे दोनोंही अवस्था बि-गड़कर 'इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः, अर्थात् 'दोनों ही दीनसे गए पांडे हलुआ हुए न मांडे, वाली कहावत होजाती है । कच्चे फलको तोड़कर खानेसे पक्के फलका स्वाद नहीं मिलसकता । एकसमय कितने ही श्रेष्ठ वंशोत्पन्न चञ्चलबुद्धि-युवा ब्राह्मणकुमार योग्य समयसे पहिले ही घरको छोड़ संन्यासी होकर वनमें चले गए

थे, इन्द्र उनके ऊपर दयालु होकर सुवर्णमय पक्षीका देह धारण करके आये और उपदेश किया कि--तुम घर जाकर गृहस्थधर्म का पालन करो। गृहस्थाश्रम धर्मशिक्षा पानेके लिये योग्य क्षेत्र है। यह आश्रम अति पवित्र है। देवपूजा अध्ययन, संसारी हो कर पुत्र उत्पन्न करते हुए पितृऋणको चुकाना आदि कार्योंकी समान कठोर तपस्या और कौनसी है ? गार्हस्थ्यधर्मके गुरुभार को ग्रहण करो। जो अपने कर्त्तव्यको छोड़ बैठते हैं वह पापी हैं। जो भूँखेकी क्षुधाको दूर करके बचे हुए भोजनसे किसीप्रकार अपनी क्षुधाको निवृत्त करता है वह मानो यज्ञसे बचे हुए अमृत का भोजन करता है यह कथा महाभारतके शांतिपर्वमें विस्तार के साथ वर्णनकी है।

जब गृहस्थ, छात्रोंको समस्त कर्त्तव्य भार उठानेके योग्य देखैं, जब अपने शरीर पर वृद्धावस्थाके चिन्होंको प्रकट होता देखैं, जब सन्तानके सन्तान होजाय तब वह स्त्रीके साथ गृहस्थ को त्यागकर निर्जनवासके योग्य होंगे। आजकल कुछ निर्जन स्थानमें आत्मचिंतवन और शास्त्रालाप करते हुए छोटीर अवस्थावालोंकोभी उपदेशके द्वारा योग्य बनादेनेसे भी तीसरे आश्रम का कार्य सम्पन्न होसकता है।

अंतको वृद्ध अवस्थामें मनुष्य यथार्थ चौथे आश्रममें प्रवेश करनेके अधिकारी होते हैं। उससमय उनको ध्यान, धारणा और पूजा आदिके सिवाय और कोई कार्य नहीं रहता है। तदनन्तर धीरे २ मृत्युमार्गसे गन्तव्य स्थान पर पहुँचकर सुन्दरता के साथ बितायेहुए जीवनका फल भोग फिर इस लोकमें आकर उन्नति पाते हैं।

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा।
एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः॥ ८१॥

(मनु० अ० ६)

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और यति, यह सब आश्रम पृथक् २ गृहस्थसे ही उत्पन्न हुए हैं ॥ ८७॥

वेदानधीत्य वेदौ वा वेदम्वापि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत् ॥

(मनु० अ० ३)

तीन दो वा एक वेदको क्रमसे पढ़कर यत्नके साथ समाप्त करै, इस बीचमें ब्रह्मचर्य खण्डित न होने पावे, तदनन्तर उस आश्रमको छोड़कर गृहस्थमें प्रवेश करै ॥ २ ॥

गृहस्थस्तु यदा पश्येत् बलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्य तथापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥ २ ॥
वनेषु तु विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत् ॥ ३२ ॥

मनु०

जब गृहस्थ अपने शरीरमें झुर्रियें पड़ती देखे और पुत्रके पुत्र को देखलेय तब अपने घरको छोड़कर बनमें जाकर रहै ॥ २ ॥ इसप्रकार बनमें प्रसन्नचित्तसे आयुके तीसरे भागको बिताकर चौथे भागमें सकल संगोंको त्यागकर संन्यास ग्रहण करै ॥

अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा प्रजाम् ।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥

(मनु अ० ३)

जो द्विज बिना पढ़े और संतान बिना उत्पन्न करे तथा यज्ञों के द्वारा देवता तथा पितरोंको बिना प्रसन्न करें मोक्षकी इच्छा करता है वह उन्नति न पाकर नीचेको उलटा गिरता है ॥ ९७॥

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥

(मनु० २ अ०)

अधिक भोजन करनेसे शरीर रुग्ण रहता है, आयु कम होती

है लोकमें निंदा होती है और स्वर्ग तथा धर्मका विरोधी है, अतः अति भोजन न करै॥ ५७ ॥

नोदितो गुरुणा नित्यमप्रणोदित एव वा ।
कुर्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥ १९१ ॥
वर्जयेन्मधु मांसञ्च गन्धमाल्यं रसान् स्त्रियः ।
शुक्तानि चैव सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम् ॥ १७७ ॥
कामं क्रोधञ्च लोभञ्च नर्त्तनं गीतवादनम् ॥ १७८ ॥
द्यूतञ्च जनवादञ्च परिवादं तथानृतम् ॥ १७९ ॥
एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित् ।
कामाद्धि स्कन्दयन् रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः ॥ १८० ॥
(मनु० २ अ०)

गुरुकी आज्ञासे या बिना आज्ञाके ही अध्ययन और गुरुके हितका यत्न करता रहै ॥१९१॥ मद्य, मांस, गन्ध, माला, रस, स्त्री, कांजी, और सकल प्राणियोंकी हिंसाको त्यागदेय ॥१७७॥ काम क्रोध; लोभ नाचना, बजाना, गाना, १७८ जुआ खेलना और दूसरोंकी वृथा निंदा करना त्यागदेय १७९ अकेला शांत चित्त होकर सोवै, वीर्यपातके कार्यको यत्नके साथ त्यागे जो कामवश वीर्यपात करता है वह ब्रह्मचर्य व्रतका नाश करता है ॥ १८० ॥

यथा वायुं समाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्त इतराश्रमाः ॥ ७७ ॥
सर्वेषामपि चैतेषां वेदश्रुतिविधानतः ।
गृहस्थ उच्यते श्रेयः स त्रीनेतान् बिभर्त्ति हि ॥ ८८ ॥
यथा नदीनदाः सर्वे समुद्रे यान्ति संस्थितिम् ॥ ९ ॥
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यांति संस्थितिम् ॥ ८० ॥
मनु० ३ अ०)

जैसे वायुके आश्रयसे सब जीव जन्तु जीवित रहते हैं, तैसे ही गृहस्थके आश्रयसे और आश्रम जीवित रहते हैं ॥ ७७ ॥ वेद

की श्रुतिके अनुसार इन सर्वोंमें गृहस्थ श्रेष्ठ कहाता है, क्योंकि-वह तीनोंका पोषण करता है ॥ ८८ ॥ जैसे सब नद नदी समुद्र का आश्रय लेते हैं तैसे ही सकल आश्रमी गृहस्थका आश्रय लेते हैं ॥ ९० ॥

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥ १ ॥
(गीता६ अ०)

कर्मफलकी आशाको त्याग जो पुरुष अवश्यकर्त्तव्य मान कर श्रद्धाके साथ विहित कर्मको करता है निःसन्देह वही संन्यासी और वही योगी है, केवल अग्निहोत्र और कर्त्तव्य कर्मोंका त्यागमात्र करनेसे संन्यासी नहीं कहाता है ॥ १ ॥

—०—

सप्तम अध्याय

चार वर्ण

जीवात्मा जन्म मरणके चक्रमें असंख्यों बार आवाजाई करता हुए क्रमसे चार अवस्थाओंमें प्राप्त होते हैं। पुरातन समयमें इसको ही वर्णविभाग कहा गया है, यह ही मानवधर्म शास्त्रके वर्णविभागका हेतु है।

वर्णविभाग।—सब जीवात्माओंको ही क्रमसे यह चार वर्ण धारण करने होते हैं। सनातनधर्मकी विशेषता ही यह है कि-चारों वर्णोंका विभाग ही सनातनधर्मावलम्बी समाजका मेरुदण्ड स्वरूप है। प्राचीन समयमें सब जातियें इन सब अवस्थाओंके अनुरूप होती थीं जीवात्मा प्रत्येक अवस्थाके अनुरूप वर्णमें जन्म धारण करते थे। इसीलिये सकल सनातनधर्म समाज संतुष्ट और क्रमसे उन्नतियुक्त था। कुरुक्षेत्रमें अर्जुनको जो भय उत्पन्न हुआ था, आगेके समयमें वह पूर्ण होगया है

आजकल आर्यावर्त्तमें और सकल भारतमें वर्णसंकरताका दोष लग गया है। आजकल जीवात्मा उपयोगी वर्णमें जन्म न लेकर केवल उपयोगी देहमें ही जन्म रहे हैं, इसी कारण आजकल हिंदूसमाजमें गड़बड़ीमची हुई है। किसप्रकार फिर ठीक व्यवस्था प्रचलित होसकती है, इस बातका विचार करना योग्य पुरुषों का कार्य है, इस बातका विचार बालक नहीं करसकते। इस समय वर्णके यथार्थ अर्थका विचार करना चाहिये।

हम कहचुके हैं कि वर्ण चार हैं पहिलेमें जीवात्माकी शैशव बालकपन और युवावस्था बीतती है। वह उस समय युवा पुरुष के योग्य धर्म, आज्ञाकारी होना, कार्यतत्परता और धैर्यको सीखता है। उससमय उसका दायित्व (जिम्मेवारी) बहुत थोडा होता है, उससमय उसका कर्त्तव्य केवल सेवाही होती है। यदि वर्णसङ्करता नहीं होती है तो ऐसी अवस्थामें जीवात्मा समाजके नीचे वर्णमें जन्मग्रहण करते हैं और श्रमजीवी, कारीगर तथा नौकर आदि होकर अपने जन्मको बिताते हैं। सनातनधर्मके सामाजिक नियमानुसार वह शूद्र हैं इस वर्णसंकरताके समयमें ऐसे जीवात्मा भारतवर्षके शूद्रवर्णमें व अन्यत्र उपयुक्त जातिमें जन्म लेनेपर सुख संतोषके साथ अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं परन्तु उच्च वंशमें जन्म लेनेपर और उसके कंधे पर ऊँचाभार पड़ने पर सर्वसाधारणके लिये बड़ाही अनिष्टकारक हो उठते हैं तैसे ही बिकाशप्राप्त जीवात्माका नीच जातिमें जन्म होनेपर भी बड़ी बिपत्ति पड़ती है। तब जिस जीवात्माकी यथार्थ उन्नति होती है वह चाहे जिस जातिमें जन्म लेय उसमें ही प्रसन्न रहता है। परन्तु आधे विकाशको प्राप्त जीवात्मा स्वभावसे ही अनुपयोगी देशकालके साथ विरोध करके ईश्वरेच्छासे बिकाश पाकर उपयोगी परिवर्त्तन साध लेता है।

दूसरी अवस्था जीवात्माकी पूर्णताका पहिला अर्धभाग है इस

समय धनोपार्जन और उसको भोगनेके श्रेष्ठ व्यवहारके योग्य होता है। इस समय उसके यत्नसे परिश्रमके कार्यकी व्यवस्था होती है। दायित्वके परिचालनकी शक्ति उत्पन्न होती है और संचित धनका सद्व्यय करनेकी सामर्थ्य होती है यह ही व्यवसायी अथवा व्यवसायके अनुरूप कार्यके नेता होते हैं। सनातन धर्ममें इसप्रकार जीवात्माके वैश्यवर्णमें जन्म लेनेकी कथा है। यह धन सञ्चय और सर्वसाधारणकी उन्नतिके कार्यमें जीवन को बिताते हैं।

तीसरी अवस्था जीवात्माकी पूर्णताका दूसरा भाग है, इस समय उनका दायित्व और बढ़कर जातिका आश्रय कहाती है, इस समय वह व्यवस्थापक, शासनकर्त्ता और राज्यके लिये निःस्वार्थभावसे कार्य करने वाले होते हैं। इस समय उनकी शक्ति सञ्चयके लिये नहीं होती है, केवल लोकरक्षा और पालनके लिये होती है यह राजा विचारक व्यवस्थापक और योद्धा होते हैं सनातनधर्मके सामाजिक नियममें ऐसे जीवात्माको क्षत्रिय कहा है। इस शरीरमें जीवात्माको राजा और योधा बनना पड़ता है

चौथी अवस्था, जीवात्माकी प्रशान्त अवस्था है। इस समय पार्थिव वस्तुओंमें उसको मोहित नहीं कियाजासकता। इस समय वह नवीन जीवात्माओंके उपदेशक बन्धु और सहायकहोते हैं। यह सब जातियोंके पुरोहित, उपदेशक और और सबप्रकारके शिक्षक, ग्रन्थकार, वैज्ञानिक, कवि और तत्वज्ञानीरूपसे प्रकट होते हैं। सनातनधर्मकी विधिके अनुसार यह सब जीवात्मा ब्राह्मणकुलमें जन्म ग्रहण करके अत्यन्त उन्नत अवस्थाको प्राप्त होगए हैं। इनको अभाव बहुत कम और दायित्व बहुत अधिक है, यह अति उन्नत और निःस्वार्थ भावसे पूर्ण हैं वर्णसंकरता के कारण इस वर्णका अत्यन्त ही अधःपतन हुआ है। क्योंकि-

जो श्रेष्ठ होता है उसमें विकार बहुत ही बुरा होता है। ब्राह्मण शरीरमें शूद्र जीवात्माका होना सनातनधर्मके मन्तव्यानुसार बहुत ही अनिष्टकारक होता है।

एक वर्णके लोक अन्य वर्णके कार्यको अधिकारमें लें तो बड़ा अनिष्ट होने लगता है अपने २ वर्णका अधिकार, जो कुछ करनेका भार डालता है, सब लोग उसको भूलकर केवल अधिकारके विषयको लेकर बड़बड़ करते रहते हैं, इससे और भी अधिक विपत्ति आती चली जाती है। ब्राह्मण क्षत्रिय अपने २ अधिकार को पानेके लिये बड़े ही व्यग्र हैं, परन्तु वह अपने दायित्वकी बात एक बार भी विचारना नहीं चाहते। इस कारण ही स्वाभाविक ही परस्पर विरोध बढ़ताजाता है। आजकल परस्परकी शत्रुताके कारण पहिलेकी समान सापेक्षता और सद्भाव नहीं है। इसीकारण वर्णधर्म आजकल विपत्तिका कारण होउठा है। वह अब पहिलेकी समान समाजके मेरुदण्डस्वरूपमें रक्षाका कार्य नहीं करता है।

प्रत्येक बालक समाजकी सुखमय अवस्था स्थापन करनेके लिये इतना करसकते हैं कि-उनमें जिसका जो वर्णधर्म हो उसके गुणोंका सञ्चय करनेमें यत्न करें और ऊँचा अधिकार पानेकी गड़बड़ीमें पड़कर गर्व और झूठे सन्मार्गकी लालसामें दिक्क न हों। शूद्र परिश्रम, विश्वासपात्रता और कर्मतत्परताका अभ्यास करें। वैश्य व्यवसायी दाता और सत् असत्का विचार करनेवाले हों। क्षत्रिय साहसी, सदाचारी और बलवान् होनेका यत्न करें। ब्राह्मण सहिष्णुता, पवित्रता, विद्या सत्यवक्तापन और आत्मत्यागका अभ्यास करें। प्रतीत होता है यदि इस प्रकार सब अपने अपने धर्मका पालन करनेमें यत्न करने लगें तो धीरे २ वर्णसंकरताका लोप होसकता है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ऋक् १०।९०।१२

उसके मुखसे ब्राह्मण; बाहुसे क्षत्रिय, ऊरुसे वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए ।

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः ।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक् कर्माण्यकल्पयत् ॥ ८७ ॥
अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ ८८ ॥
प्रजानां रक्षणं दानं इज्याध्ययनमेव च ।
विषयेष्वप्रसक्तिं च क्षत्रियस्य समादिशत् ॥ ८९ ॥
पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदञ्च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ ९० ॥
एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनुसूयया ॥९१॥ (मनु० १ अ०)

इस सकल सृष्टिकी रक्षाके लिये तिस परमप्रकाशस्वरूप प्रभु ने मुख, बाहु ऊरू और चरणोंसे उत्पन्न हुए चारों वर्णोंके पृथक् २ कर्म रचे हैं ॥ ८७ ॥ पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना,दान करना और प्रतिग्रह यह छः कर्म ब्राह्मणोंके कल्पना किये ॥८८॥ प्रजाओंकी रक्षा, दान, यज्ञ, अध्ययन और भोगों में आसक्तिका त्याग करना, यह क्षत्रियोंके कर्म हैं ।८९। पशुओं की रक्षा, दान; यज्ञ, अध्ययन, व्यापार, ब्याज पर रुपया देना और खेतीका काम यह वैश्यके कर्म हैं ॥ ९० ॥ और चित्तमें डाह वा खेद न करके उपरोक्त तीनों वर्णोंकी सेवा करना शूद्रों का प्रधान कर्म बताया है ॥ ९१ ॥

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम् ।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तथैव विनिर्दिशेत् ॥ ३५ ॥
(भागवत ७ । ११)

जिस वर्णका अभिव्यञ्जक जो लक्षण शास्त्रमें कहा है यदि वह अन्य वर्णमें देखनेमें आवे तो उसका भी तैसा ही आदर करे ॥३५॥ (यदि किसी क्षत्रिय आदिमें ब्राह्मणवर्णके अभिव्यंजक लक्षण हों तो उसका ब्राह्मणके समान आदर करे, परंतु उसका दान लेना आदि कार्य नहीं होगा, क्योंकि-ब्राह्मण जाति में उत्पन्न न होनेवालोंके लिए ऐसा व्यवहार शास्त्रमें या लोक में देखनेमें नहीं आता) ।

न योनिर्नापि संस्कारो न श्रुतं न च सन्ततिः ।
कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम् ॥ १०८ ॥

(महाभारत वनपर्व ३ १३ अ०)

केवल योनि, वा केवल संस्कार, या केवल वेदाध्ययन, या केवल ब्राह्मणके यहाँ जन्म होना द्विजत्वमें हेतु नहीं है, किन्तु द्विजत्वका आचरण ही अर्थात् ब्राह्मणादि वर्णमें जन्म लेकर शास्त्रानुसार संस्कार होकर अपने २ कर्त्तव्यका आचरण ही द्विजत्वका हेतु है ॥ १०८ ॥

सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा ।
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ २१ ॥
शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्यं द्विजे तद्धि न विद्यते ।
नैव शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥ २२ ॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः ।
यत्र नैतद्भवेत्सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ॥ २३ ॥

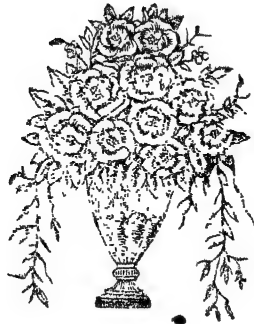
सत्य दान, क्षमा, शील, अनृशंसता, घृणा, जहाँ देखनेमें आवें शास्त्रानुसार उसमें ब्राह्मणके लक्षण हैं अर्थात् वह कर्मब्राह्मण है ॥ २१ ॥ वही लक्षण शूद्रमें हो और ब्राह्मणमें न हों तो वह शूद्र कर्मशूद्र नहीं और ब्राह्मण कर्मब्राह्मण नहीं २२ जिसमें यह लक्षण देखनेमें आवें हे सर्प ! वही वास्तविक ब्राह्मण है और जिसमें यह न दीखें उसको शूद्रसमान जानना चाहिये २३

आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः,
यद्यप्यधीतः सह षड्भिरंगैः ।
छन्दास्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति,
नीडं शकुन्ता इव पक्षजाताः ॥ ३ ॥
आचारहीनस्य तु ब्राह्मणस्य,
वेदाः षड़ंगास्त्वखिलाः सयज्ञाः ।
कां प्रीतिमुत्पादयितुं समर्था,
अन्धस्य दारा इव दर्शनीयाः ॥ ४ ॥

(वसिष्ठसंहिता ६ अ०)

आचारहीन पुरुषको, छः अङ्गों सहित पढ़े हुए वेद भी पवित्र नहीं करते हैं, जैसे पर निकलने पर पक्षी घोंसलेको छोड़ जाते हैं, तैसे ही मृत्युके समय इसको वेद त्याग देते हैं ॥ ३ ॥ जैसे अन्धेकी स्त्रियें रूपवती होने पर भी उसको कुछ नयनानन्द नहीं देसकतीं, तैसे ही यज्ञसहित षडङ्गमय वेद आचारहीन ब्राह्मणको हितकारी नहीं होते ॥४॥

—०—



❀ श्रीहरिः ❀

❀ तृतीय-खण्ड ❀

❀ प्रथम अध्याय ❀

नीतिविज्ञान क्या है ?

विज्ञान कहनेसे विशेषरूपसे सुशृंखलाबद्ध ज्ञानका बोध होता है। विज्ञानके सकल सत्य परस्पर सापेक्ष हैं। कितने एक तत्त्वों के समूहको विज्ञानशब्दसे नहीं कहसकते, किंतु वह तत्त्वसुशृंखला के साथ परस्पर सम्बद्ध रूपसे सज्जित होने चाहियें और उनसब के सम्बन्धके कारण भी सुन्दरस्वरूपसे प्रमाणित होनेचाहियें तब ही उनको विज्ञानपदसे कहाजासकता है मनुष्योंके परस्परके तथा दूसरे जीवोंके साथके व्यवहारका नाम नीति है, इसकारण नीतिविज्ञान कहनेसे कितने ही पाप पुण्योंकी सूचीका बोध नहीं होता है किंतु परस्परके प्रति यथोचित व्यवहारकी सुंदर संबन्धके साथ नियमावली और उसके मूलतत्त्वका निर्णय करानेवाले शास्त्र का नाम नीतिविज्ञान है।

नीतिशास्त्रका दूसरा नाम धर्मनीति है। सत् और असत्का ज्ञान होनेकेलिये, मनुष्यके विषयमें और उसके चारों ओर स्थित विषयोंके संबन्धमें, जानकारी होना चाहिये। सब जीवोंका मंगल साधन धर्मनीतिका उद्देश्य है। मनुष्योंको इस व्यवहारविषयक विज्ञानकी सहायतासे किस प्रकार परस्परमें और चारों ओर के जीवोंके साथ सुन्दर नियमानुसार जीवनयात्राका निर्वाह करना चाहिये यह बात बताई गई है। ईश्वर अप्रमेय है, सब विश्व सुख पावे यही उसकी इच्छा है। उस इच्छाके बलसे ही विश्व क्रमसे सुखके राज्यमें आकर पहुँचेगा। इससे ऐसा समझने की आवश्यकता नहीं है कि सत् विषयमात्र सबका प्रीतिकारक है और असत्मात्र सबको ही अप्रिय ही होगा, किन्तु इसका अर्थ

यह है कि जिस आचारसे चिरकालके लिए सुख मिलता है और ईश्वरके साथ मिलनेका आनन्द प्राप्त होता है तथा अंतमें मुक्ति होती है वह आचार ही सत् है। जैसे गाड़ीके दोनों पहिये उस गाड़ीमें जुते हुए दोनों बैलोंके पीछे २ चलते हैं वैसे ही दुःखको पापके पीछे २ चलनेवाला और सुखको पवित्रताके पीछे २ चलने वाला जानो। खोटे कर्मका फल प्रारम्भमें मधुर होने पर भी परिणाममें परम कष्टदायक होता है और कभी २ चिरकालके लिये कष्टका कारण होजाता है. जैसे कोई अनजान बालक विष-लताका सुन्दर फल भूलकर उसके देखनेमें अच्छे प्रतीत होने वाले सुगन्ध आदिसे मोहित हो, खाता है और उसके घड़ीभर बाद ही उसके कारण पीड़ासे छटपटाने लगता है। वैसे ही जो बालक आरम्भमें थोड़ासा सुख पानेकी आशासे कुकर्म करता है उसको निःसन्देह परिणाममें असह्य कष्ट सहना होगा, धर्मनीति के शिक्षकोंको चाहिये कि-प्रत्येक पापको विषशब्दसे पुकारा करें।

आचारलक्षणो धर्मः संतश्चाचारलक्षणाः ।
आगमानां हि सर्वेषामाचारः श्रेष्ठ उच्यते ॥
आचारप्रभवो धर्मो धर्मादायुर्विवर्द्धते ।
आचाराल्लभते ह्यायुराचाल्लभते श्रियम् ॥
आचारात्कीर्त्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च ।

(महाभारत अनुशासनपर्व १० अ०)

सदाचार ही धर्मका लक्षण है, सदाचारवान होना ही साधुओं का लक्षण है, सब शास्त्रोंमें आचारको ही श्रेष्ठ कहा है आचार से धर्म उत्पन्न होता है, धर्मसे आयु बढ़ती है इसी लिये आचार से आयु बढ़ती है, और आचारसे ही पुरुष लक्ष्मी पाता है। जो पुरुष सदाचारी होता है उसकी इस लोकमें और मरणके अनन्तर परलोकमें भी कीर्त्ति होती है।

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च ।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः १०८
एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम् ।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥ ११० ॥
(मनु० १ अ०)

श्रुति और स्मृतिमें कहा है कि—आचार धर्मका परम लक्षण है, इस कारण सदा आचारसे रहनेवाला द्विज आत्मज्ञानी होता है ॥ १०८ ॥ मुनियोंने आचारके द्वारा धर्मकी गतिको देखकर, सकल तपोंके मूल आचारको ही ग्रहण किया ॥ ११० ॥

प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यः स्यात्प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥
धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृतः प्रजाः ।
यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यः स्यादहिंसया युक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥
(महाभारत शांतिपर्व, राजधर्म अ० १०९)

सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषाञ्च हिते रतः ।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले ॥
(महाभारत शांतिपर्व मोक्षधर्म ८८ अ०)

सकल प्राणियोंके प्रभावके लिये धर्मका प्रचार है; जिसमें प्रभाव देखो उसको ही धर्म जानो । धारण करनेसे धर्म कहाता है, धर्मसे ही प्रजा ठहरी हुई है,जिसमें धारणकी शक्ति हो उसको धर्म जानो । प्राणियोंकी अहिंसाके लिये धर्मका प्रचार है, जो अहिंसायुक्त है वही धर्म कहाता है, जो सदा सबका मित्र है और शरीर, वाणी, मनसे सबके हितमें तत्पर है, हे जाजले ! वही धर्मको जानता है ।

न कुर्यात्कर्हिचित्सङ्गं तपस्तीव्रं तितीर्षुः ।

धर्मार्थकाममोक्षाणां यदत्यन्तविघातकम् ॥ ३४ ॥
तत्रापि मोक्ष एवार्थ आत्यन्तिकतयेष्यते ।
त्रैवर्ग्योऽर्थो यतो नित्यं कृतान्तभयसंयुतः ॥ ३५ ॥
(श्रीमद्भागवत ४।२२)

यदि तुम इस घोर अन्धकारमय संसारको तरना चाहते हो तो किसीके साथ सग न करो, क्योंकि-संग ही धर्म, अर्थ,काम और मोक्षका अत्यन्त नाश करने वाला है ३४ चारों पुरुषार्थों में भी केवल मोक्षको ही सार जानो, अन्य तीनोंमें तो सदा यमराजका भय लगा रहता है ।

धर्म चार्थं च कामं च यथावद्वदतां वर ।
विभज्य काले कालज्ञः सर्वान् सेवेत पण्डितः ॥ ४१ ॥
मोक्षो वा परमं श्रेय एषां राजन् सुखार्थिनाम् ।
(महाभारत वनपर्व ३० अ०)

हे ज्ञानी वक्ताओंमें श्रेष्ठ धर्मज्ञ सुजन ! यथासमय पर धर्म, अर्थ और कामका सेवन करो ॥ ४१ ॥ परन्तु हे राजन्! जिस को सुखकी इच्छा हो, उसके लिये मोक्ष ही परम श्रेय है ॥४२॥

द्वितीय अध्याय

धर्म ही नीति—शास्त्रकी भित्ति है

'धर्मशास्त्रका पहिला उपदेश है कि-'आत्मा एक है' । इस बातकी आलोचना पहिले ही की गई है । यद्यपि देखनेमें ऐसा आता है कि-आत्मा असंख्य हैं,तथापि यह सब उस एकके अंश वा प्रतिविम्ब हैं । इन सबकी स्वतन्त्रता क्षणिक है और एकता चिरस्थायी है। एक सरोवरमेंसे असंख्यों पात्र भर लिये जाते हैं परन्तु उन सब पात्रोंमें जल एक ही है। अनन्तसत्व समुद्रमें गोता देकर जीवात्माके जीवनकी सृष्टिकी गई है, परन्तु सबका प्राण

एक ही पदार्थ है। धर्मशास्त्रका यह मूलतत्त्व ही नीतिशास्त्रकी भित्ति है (१)

इसीलिए नीतिशास्त्रकी मूलमें आत्माकी एकता प्रतिष्ठित है परन्तु केवल इतना होनेसे ही कार्यसिद्धि नहीं होसकती। एकमेवाद्वितीयम् मैं और तू नहीं रह सकता। परन्तु हमारा विज्ञान तो मैं और तूके सम्बन्धका निर्णय करनेमें ही व्यस्त है, हम जो अनात्म पदार्थोंमें एकता देख रहे हैं, इसका कारण यह है कि-अनेकों भौतिक उपाधियें हैं, परन्तु इन सब उपाधियोंमें उस ही एकमात्र आत्माका प्रतिबिम्ब का अंश विद्यमान है, जगत्में असंख्यों देह और मन हैं, वह देह और मन परस्पर एक दूसरेके

(१) और एक दृष्टान्तसे यह बात स्पष्ट होसकती है। जगत् के सब ही पदार्थोंमें इलेक्ट्रिसिटी अर्थात् बिजली है। कलकत्ते में धर्मतलेसे श्यामबाजार तक जो तार चला गया है उसके सब ही स्थानोंमें बिजलीका प्रवाह विद्यमान है, परन्तु उस बिजली की शक्तिका विकाश तारके सब स्थानोंमें वा जगत्में सर्वत्र नहीं है, बिजलीका विशेषरूपसे विकाश होनेके लिये उपयोगी उपाधि का प्रबन्ध करना चाहिये। जहां जहां उसका उपयोगी प्रबन्ध किया गया है, तहां २ बिजलीका दीपक जलता है या उसके द्वारा पंखा होता है अथवा ट्राम्वे वा समाचार पहुंचते हैं। परंतु बिजलीकी दो लालटेनोंके बीचका स्थान बिना लालटेनका होने से क्या यह कहा जासकता है कि-उस स्थानमें बिजली नहीं है? या जगत्में सर्वत्र सकल परमाणुओंमें बिजली नहीं है अथवा बिजली सर्वव्यापक नहीं है? अव्यक्त अवस्थामें इन्द्रियगोचर न होने पर भी बिजली सर्वत्र व्यापक हैं, तैसे ही अव्यक्तरूपसे परमात्मा भी सर्वव्यापी है-उपयुक्त उपाधिकी सहायताके द्वारा जीवात्मा रूपसे विकसित होता है।

साथ अन्वित हैं सकल देह और मन अन्यान्य देह और मनोंके साथ इन्द्रिय ज्ञानमें पृथक् होने पर भी चैतन्य के द्वारा अनुप्राणित हैं, जबतक यह बात बुद्धिस्थ नहीं होगी, तब तक उन के यथार्थ सम्बन्धका ज्ञान नहीं होसकता। दूसरों की जो बुराई भलाई कीजाती है उसको समझना चाहिये कि-दूसरेकी बुराई करने पर हम अपनी ही बुराई करते हैं। यदि हाथ अपने शरीरमें के पैरको काटडालेगा तो यद्यपि हाथमेंसे रुधिर नहीं निकलेगा, परन्तु कुछ, देरके बाद हाथको उस रुधिरके निकलनेसे उत्पन्न हुई दुर्बलताका अनुभव करना पड़ेगा। क्योंकि सकल शरीरमें बहनेवाला रक्त एक ही है और सकल रुधिरकी उत्पत्तिका स्थान भी एक ही है तैसेही एक मनुष्य यदि दूसरेका अनिष्ट करता है तो अनिष्ट करने वालेको भी दुःख पानेवाले पुरुषकी समान कष्ट सहना पड़ता है। भेद केवल इतना ही है कि-अनिष्ट करनेवालेको कुछ देरसे कष्टका अनुभव होता है।

यह ही युक्तिके द्वारा श्रेष्ठव्यवहारकी, मूलभित्ति निर्णीत हुई है बालकोंको चाहिये कि—पहिले तो ऋषियोंके वाक्योंको समझकर नीतिके नियमोंको स्वीकार करलें, क्योंकि उस समय उसको स्वयं भले बुरेका विचार करनेकी शक्ति नहीं होती है, परन्तु उमर बढ़नेके साथ वह सनातनधर्मकी सकल आज्ञाओं के प्रयोजनको युक्तियोंके द्वारा निर्णय करके समझसकेंगे।

एकही आत्मा सकल जीवोंमें विद्यमान है। प्रत्येक जीवात्मा उस परमात्माका अंश वा प्रतिबिम्ब है। इस सत्यको हृदय में जड़ रखनेके लिये, श्वेताश्वतरोपनिषद्का यह श्लोक कण्ठ कर रखना चाहिये-

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च।
(श्वेता० ६।२)

एक ईश्वर सकल भूतोंमें गूढ़भावसे वर्त्तमान है (जैसे एक बूँद जलमें जलका सकल उपादान गुप्तरूपसे रहता है, तैसे ही ईश्वर प्रत्येक परमाणुमें पूर्णभावसे विद्यमान है) वह सर्वव्यापी और सकल प्राणियोंका अन्तरात्मा है। वह कर्मका अध्यक्ष और सकल भूतोंका आश्रयस्थान है। वह साक्षी, चेतनस्वरूप और अद्वितीय निर्गुण है। यह बात सबको स्मरण रखना चाहिये कि दूसरेका अनिष्ट करने पर अपना अनिष्ट होता है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है कि-

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

(गीता १० अध्याय)

हे अर्जुन ! मैं प्राणियोंका अन्तःस्थित आत्मा हूँ तथा सकल प्राणियोंकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय मैं ही हूँ ॥ २० ॥

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ॥ १० ॥

(कठ ४ वल्ली)

वह एकही सकल प्राणियोंका अन्तरात्मा है, वह बहुत होकर रहता है और अनेकों रूपोंको धारण करता है ॥ १० ॥

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

ईशोपनिषद्

जो पुरुष अपनेमें सकल प्राणियोंको देखता है और सकल प्राणियोंमें अपना दर्शन करता है, उसके हृदयमें ब्रह्मज्ञानका उदय होता है और वह फिर किसीसे भी घृणा नहीं करता है ६

जब सकल प्राणियोंमें आत्मज्ञान होजाता है तब ज्ञानीको काहे का शोक और काहेका मोह ॥ ७ ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

(गीता ६ अ०)

जिसका चित्त योगसे सावधान होजाता है वह सबको समान समझता है, वह योगी ही सकल प्राणियोंको अपनेमें देखता है और अपनेको सकल प्राणियोंमें अभिन्न देखता है ।

❀ तृतीय अध्याय ❀

सत् और असत्

सत् और असत् इन दो शब्दोंको सब ही बोलते हैं, परन्तु इन दोनों शब्दोंका प्रतिपाद्य क्या है, इस बातको सब ही नहीं जानते इससमय हम इन दोनों शब्दोंके विषयकी ही आलोचना करेंगे त्रिलोकीके साथ जो हम विशेष सम्बन्धके बन्धनमें बँधे हुए हैं, उसका हम पीछे वर्णन करचुके हैं। इस त्रिलोकीको ब्रह्माने रचा है, विष्णुने रक्षाकी है और शिव इसका प्रलय करते हैं । हम किसी नई त्रिलोकीकी बात कहेंगे, जिसको कि-प्रमाण कहा जासकता है । एकसे बहुतसी मूर्त्तियोंका प्रकट होना, वृद्धि और उन्नति धीरे २ उनमें विभिन्नता आना, फिर क्रमरसे उन सब विभिन्न मूर्त्तियोंमें स्वतन्त्र व्यक्तिपनेका समावेश, संसारकी बहुत कुछ देखभालसे प्रत्येक व्यक्तिके विषयकी ज्ञानप्राप्ति,बाहरी जगत्‌मेंसे प्रयोजनकी सामग्रीका संग्रह करते हुए उनके देहकी उन्नतिका साधन, इसका नाम ही प्रवृत्तिमार्ग है । इस मार्गका अवलम्बन करके जीवात्मा अपनेको स्वतन्त्र व्यक्ति मान रहे हैं। बाहरी जगत्‌को यथासंभव ग्रहण करते हुए अपनी बुद्धि और अहंज्ञानकी पुष्टि करते हैं । यह कार्य पूरा होने पर जीवात्माको

शिक्षा देनी होगी कि-वह एक महान् 'अहम्' है अर्थात् जिसको हम ईश्वर कहते हैं, उसका अंश वा प्रतिबिम्बमात्र है। उसकी सब शक्तियोंका यदि उस महान् 'अहम्' वा ईश्वरके अंशरूपसे व्यवहार हो तब ही वह शक्तियें सुखका हेतु होसकती हैं, उस समय वह बहुतत्त्वमें एकत्वको देखते हैं और अपनी स्वतन्त्रताको छोड़ते हुए एकत्वको पानेकी चेष्टा करते हैं। उस समय उनको अपनी अपेक्षा दुर्बलको अपनी शक्तिके अनुसार दान देनेकी इच्छा होती है और अपना शरीर तथा मन जिसको कि संग्रह किया है, दूसरे देह और मनके साथ मिलकर व्यवहार करनेको उनकी अभिलाषा होती है इसका ही नाम निवृत्तिमार्ग है। इसी मार्गका अवलम्बन करके जीवात्मा प्रत्येक दीन दुःखी पुरुषको अपना सर्वस्व बाँटकर समदर्शीपना पाता है।

इन दो मार्गोंके द्वारा क्रमविकाशका चरित्र गठित होता है। इस विकाशचक्रके मार्गमें विष्णुरूपी ईश्वरकी इच्छासे उसका रचाहुआ जगत् चलाया जाता है। उसकी इच्छाके अनुसार कार्य करना सत् और उसके विपरीत कार्य करना असत् कहाता है।

जहाँ प्रवृत्तिमार्ग निवृत्तिमार्गमें मिलगया है, यह विश्व उस ही परिवर्त्तनबिन्दुमें स्थित है। अधिकतर मनुष्य आजकल प्रवृत्तिमार्गका अवलम्बन करके चल रहे हैं, परन्तु शीघ्र ही निवृत्तिमार्गमें प्रवेश करते हुए ऊँची अवस्थाको पावेंगे। इसलिये जिस वासना सङ्कल्प और क्रियाके द्वारा जीव निवृत्तिमार्गके बटोही होसकते हैं और जिस मार्गका अन्तिम मेल उस मार्गमेंको ही जाकर होता है वह ही सत् है जिसमें भेदभाव दूर होकर अभेदज्ञान उत्पन्न होता है, उसके लिये हमको निरन्तर यत्न करना चाहिये। जिसके द्वारा भेदभावना दूर होकर अभेदभावका उदय होता है, वह ही सत् है। जिसके द्वारा अभेदज्ञान नष्ट होता है और भेदभाव बढ़ता है वह ही असत् है। परंतु पशु वा असभ्य

मनुष्यके शरीरमें स्थित क्षुद्र जीवात्माओंकी स्वतन्त्रताका ज्ञान इस समय भी अत्यंत क्षीण होता है, इसलिये उनको इससमय भी भेदभाव होना चाहिये,और जो उन्नत व्यक्तियोंकी दृष्टिमें सत् वा असत् प्रतीत होता है,वह उनकी दृष्टिमें वैसा नहीं होसकता इसी लिये नीति संबंधी ज्ञान, अवस्थाके अनुसार होता है, यह बात कही जासकती है। जो कुछ एक उन्नति पागये हैं उनको अपने अवलम्बित मार्गके अनुसार सत् असत्का ज्ञान होता है।

भीष्मजीने युधिष्ठिरसे कहा था कि-धर्मनीतिकी गति अति-सूक्ष्म है। मैं तुमको वेदवाक्योंके द्वारा उपदेश नहीं देता हूँ किंतु बहुत कुछ देखभालसे अनुभव उत्पन्न होने पर जैसा वेदके अर्थ का अनुभव हुआ है,तैसाही मैं उपदेश देरहा हूँ,ऐसा जानो कोई भी एक देशदर्शी मनुष्य नीतिके द्वारा इस संसारमें अभीष्टसिद्धि नहीं करसकता,वेदोंके वाक्य गूढअर्थोंसे भरे हुए हैं,उनके अनु-सार युक्तिपूर्वक कार्य करना चाहिये नहीं तो निष्फलता होती है।

पहिले समयमें शुक्राचार्य उशनाने कहा था कि—वेदवाक्य अयौक्तिक हो तो उसका भी केवल वेदवाक्य होनेसे ही मान्य नहीं किया जासकता (वास्तवमें वेदवाक्य अयौक्तिक नहीं हो सकता, किन्तु युक्ति लगानेवालेके ज्ञान और युक्तिकी शक्तिके अनुसार यौक्तिक वा अयौक्तिक प्रतीत होसकता है) जो ज्ञान संदेहपूर्ण हो उसकी आवश्यकता ही क्या? जो नीति केवल वाक्यगत है, अवस्थाके अनुकूल नहीं है,उसके आचरणसे मनुष्य भ्रमके मार्गमें पड़जाता है एक समय बड़ा भारी दुर्भिक्ष पड़नेपर महर्षि विश्वामित्रने चाण्डालसे अपवित्र मांस लेकर वह ही देव-ताओंको बलिरूपसे अर्पण किया था। क्षमागुण संन्यासीके लिये कल्याणकारक होने पर भी वही राजाके लिये कल्याण-कारक नहीं होसकता। कोई खास प्रजाका अपमान करे तो वह उसको क्षमा कर सकता है परंतु प्रजामेंके किसी साधारण पुरुष

के ऊपर भी कोई अन्याय करे तो राजा उसको क्षमा नहीं कर सकता, क्योंकि-वह अन्याय उसके अपने और देशभरके लिये अनिष्टकारक होता है। राजाके लिए, प्राणान्त दण्डके अयोग्य को प्राणांत दण्ड देना जैसे पाप है तैसे ही प्राणांतदण्डके पात्र को प्राणांत दण्ड न देना भी पाप है। दृढ़ता राजाका आवश्यक गुण है। और सब प्रजा जिससे कि-अपने२ कर्त्तव्यको करे, इस के लिये कठोरताका अवलम्बन करना भी आवश्यक है। यदि राजा ऐसा न करे तो उसकी प्रजाके मनुष्य उच्छृंखल होकर भूँखे व्याघ्रकी समान दुर्बलकी हत्या और परस्परका नाश कर डालें। एक पुरानी कथा है कि प्रिय बोलनेवाली पत्नी ही श्रेष्ठ पत्नी है। जो पुत्र पिता माताको सुख देता है वह ही सुपुत्र है, विश्वासपात्र बन्धु ही बन्धु है, वही मातृभूमि है जहाँ जीविका प्राप्त हो, वही सच्चा राजा है जो अत्याचार न करके कठोरता के साथ शासन करता है, जिसके राज्यमें धर्मपरायणको किसी प्रकारका भय नहीं है, जो दुर्बलोंकी रक्षा और दुष्टोंका दमन करता है, किस पुरुषको देश, काल और पात्रके भेदसे किस प्रकार धर्म कार्य करना चाहिये, इसका नियम बतानेके लिये ही आश्रम और वर्णोंका विभाग है। इससे मनुष्योंकी उन्नति होगी और स्वच्छन्दता बढ़ेगी। सबको ही ईश्वरकी इच्छाका निर्णय करनेकी शक्ति नहीं होती है, इसलिए जिस शास्त्रमें ईश्वरकी इच्छाका वर्णन है, उसके द्वारा हम सत् असत्का निर्णय कर सकते हैं। व्यासदेव और कितने ही ऋषि धर्मग्रंथोंमें कुछ एक नियम बतागए हैं, सब प्रकारसे उनका पालन करना चाहिये। शास्त्रकी सब ही विशेष विधि सुगम नहीं हैं।

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥ २०॥
यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः ।

न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥ २१ ॥
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत् ॥ २२ ॥

(महाभारत शांतिपर्व २५१ अ०)

यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्मपौरुषम् ।
अपत्रपेत वा येन न तत्कुर्यात्कथंचन ॥ ६७ ॥

(महाभारत शांतिपर्व, १२४अ०)

अतो यदात्मनो पथ्यं परेषां न तदा चरेत् ॥

(याज्ञवल्क्य ३ अ०)

अठारह पुराणोंमें व्यासके दो वाक्य हैं, एक तो यह कि-परोपकार करना ही पुण्य है और दूसरा यह कि दूसरोंको दुःख देना ही पाप है। जिसको दूसरेके करने पर अपनेको प्रसन्नता नहीं होती है तैसा व्यवहार अपने आप भी किसीके साथ न करें। जो अपनेको प्यारा लगे वही व्यवहार दूसरेके साथ भी करें। जिसमें किसीको किसी प्रकारका कष्ट हो या जिसके करने में लज्जा मालूम हो वह काम नहीं करना चाहिये। इसीलिए जो अपने लिए दुःखदायक हो वह व्यवहार दूसरोंके साथ भी न करें

सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च ।
प्रवृत्तञ्च निवृत्तञ्च द्विविधं कर्म वैदिकम् ॥ ८८ ॥
इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते ।
निष्कामं ज्ञानपूर्वन्तु निवृत्तमुपदिश्यते ॥ ८९ ॥
प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम् ।
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै ॥ ९० ॥

(मनु० १२ अ०)

वैदिक कर्म दो प्रकारका है, जिससे कि सुख होता है उसका सब शास्त्रोंमें प्रवृत्त नाम कहा है और जो अनुपम निःश्रेयस करनेवाला है उसका नाम निवृत्त है ॥८८॥ इस लोक या परलोकमें सुखकी आशासे जो कर्म किया जाता है उसको प्रवृत्त

कहते हैं और ज्ञानपूर्वक निष्कामभावसे जो कर्म किया जाता है उसको निवृत्त कहते हैं ८९ प्रवृत्तकर्म करके मनुष्य देवताओंकी समताको प्राप्त होता है और निवृत्तकर्मका सेवन करता हुआ तो पञ्चभूतोंके पार होजाता है अर्थात् उसको जन्ममरणके चक्रमें नहीं पड़ना होता है ॥ ९० ॥

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे ।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ॥ २७ ॥
(महाभारत शांतिपर्व २३१)

युगके ह्रासानुसार सत्ययुगमें और धर्म त्रेतामें और धर्म द्वापर में और धर्म तथा कलियुगमें मनुष्योंके और धर्म होते हैं ।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विंदन्ति मानवाः ॥ ४६ ॥
श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७ ॥
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शांति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२॥

जिससे मनुष्यकी प्रवृत्ति होती है, जो व्यापक होकर सकल विश्वमय है, मनुष्य अपने कर्मके द्वारा उसकी पूजा करके सिद्धि पाता है । स्वभावने जो कर्म जीवको दिया है, वह दोषयुक्त हो तब भी बुद्धिमान् उसको करैं, परधर्म यदि सुखकी खान हो तब भी स्वाभाविक धर्ममें उसकी अपेक्षा अधिक गुण समझै । हे अर्जुन ! ईश्वर सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित होकर सब जीवों को अपनी मायासे यन्त्र पर चढ़ी हुई पुतलीकी समान घुमाते रहते हैं । हे भारत ! सब प्रकारसे उनकी शरण लेने पर सनातन शांतिस्थानको पाओगे ।

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥ ६ ॥

मनु० २ अ०

सकल वेद, वैदिकोंकी स्मृति और आचार, साधुपुरुषोंका सम्मत आचार और जिस कर्मको करनेमें अपने आत्माको संतोष हो, यह सब धर्मके मूल हैं ॥

—०—

चतुर्थ अध्याय

नीतिका परिमाणदण्ड

जिस मानदण्डके द्वारा क्रमविकाशकी वर्त्तमान अवस्थामें कर्मका विचार किया जाता है, उसका नाम समन्वय योग है। अधिकतर जीव इस समय भी इस अवस्थामें आकर नहीं पहुँचे हैं, अधिकांश स्थानोंमें इसके द्वारा एकत्व घटित होगा या नहीं इस एक प्रश्नके द्वारा ही हम कर्मकी परीक्षा करसकते हैं। यदि प्रश्नका उत्तर हाँ हो तो वह सत् कर्म है, नहीं तो असत्कर्म है, इसी लिए प्रथम अध्यायमें लिखा जाचुका है कि-धर्मनीतिकी सहायतासे मनुष्य परस्परके साथ प्रेमभावसे रहसकते हैं प्रेम भावके साथ रहना ही एकत्वका प्रयोजक है।

इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने दैवी और आसुरी संपदाकी बात कही है, उन्होंने जो एकत्वके प्रतिपादक हैं उनको दैवी और जो भेदभाव करनेवाले हैं उनको आसुरी सम्पदा कहा है।

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुत्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥
(गीता १६ । १-३)

अभय; सत्वशुद्धि, ज्ञान तथा योगमें निष्ठा, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, आर्जव, अहिंसा, सत्य, क्रोध न करना, त्याग, शांति, चुगली न खाना, सकल प्राणियों पर दया लोभ न करना कोमलता; लज्जा, चपलता न होना, तेज, क्षमा, धैर्य, शौच द्रोह और अभिमान न करना, यह दैवी सम्पत्तिको लेकर उत्पन्न होने वालोंके गुण मनुष्योंको परस्पर मिलाते हैं और यह सब गुण आत्माके एकत्वका ज्ञान होनेसे उत्पन्न होते हैं। और देखो भगवान्ने आसुरी सम्पत्का विभाग किसप्रकार किया है—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ ८ ॥

पाखण्ड, घमण्ड, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान यह आसुरी सम्पदाको लेकर उत्पन्न होनेवालोंके गुण मनुष्योंको परस्पर विच्छिन्न करते हैं। भगवान्ने आसुरी सम्पदावालोंके रूपका जैसा वर्णन किया है, उससे प्रतीत होता है कि-आसुर पुरुष अहंकार और स्वार्थसे भरेहुए होते हैं।

अतएव छात्रोंको चाहिये कि-सत् असत्के भेदको उत्तमरूप से समझकर उस ज्ञानसे अपने चरित्रका गठन करनेमें काम लें। आगेकी शिक्षाके द्वारा तुम्हारा सत् असत् विषयका ज्ञान और भी बढ़जायगा, तब सत् असत्का तत्व सूक्ष्मरूपसे हृदय में जमजायगा, उस समय कठिनताकी सहजमें ही मीमांसा हो जायगी, परन्तु मूलत्व वा मानदण्ड वह एक ही रहेगा क्योंकि मूलत्व ईश्वरकी इच्छाके अनुगत तत्व है।

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥ ८५ ॥

सर्वमात्मनि सम्पश्येत्सच्चासच्च समाहितः ।
सर्वं ह्यात्मनि सम्पश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ॥ ११८ ॥
आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ॥ ११९ ॥
एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्मानमात्मना ।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माऽभ्येति परं पदम् ॥ १२५ ॥
(मनु १२ अ०)

सकल मोक्षसाधक कर्मोंमें आत्मज्ञान ही श्रेष्ठ है, यह सब विद्याओंमें प्रधान है और मोक्षका निदान है॥८५॥ सकल सत् असत्मय जगत्को ध्यान लगाकर परमात्मामें स्थित देखै, जो आत्मामें सकल विश्वका दर्शन करता है उसका मन अधर्मकी ओरको कभी नहीं दौड़ता है ॥ ११८ ॥ आत्मा ही सकल देवता स्वरूप है और सब आत्मामें ही स्थित हैं ॥ ११९ ॥ इस प्रकार जो आत्माके द्वारा सकल प्राणियोंमें आत्मदर्शन करता है वह सर्वसमताको पाकर परमपद ब्रह्मको पाजाता है॥ १२५ ॥

पञ्चम अध्याय

धर्मकी भित्ति

हमने देखा है कि परस्परकी सहानुभूति सनातनधर्ममें सत्कार्य कहीगई है और यह ही एकताकी साधक है नित्य पञ्चयज्ञ करनेसे मनुष्यकी ऋषि,देवता,पितर मनुष्य और जीवोंके साथ सहानुभूति उत्पन्नहोती है।सनातनधर्म और एक उपायसे हमको सत्कर्म करनेका उपदेश देता है,वह उपाय तीनप्रकारके ऋणोंको चुकाना है।ब्रह्मचर्यको धारकर अध्ययन और अध्यापनके द्वारा ऋषियोंका ऋण चुकायाजाता है । गृहस्थाश्रमका अवलम्बन करके परिवार का प्रतिपाल और (श्राद्धादि) दान कर्मके द्वारा पितृऋण चुकता होता है और वानप्रस्थाश्रम का अवलम्बन करके यज्ञ और ध्यान आदिके द्वारा देवऋण चुकता होता है ।

जिसको हमने लिया है वह हमको लौटाकर देना ही होगा, ऐसे लेनेके नाम ऋण है। कर्त्तव्यके साधनका नाम धर्म है। कर्त्तव्यकी अवहेलना (लापरवाही) का नाम ही पाप है, धार्मिक जन चिरकाल तक कर्त्तव्यका पालन करते हैं। परमात्माके लिये कोई कर्त्तव्य नहीं है। अत एव वह कर्त्तव्यका पालन भी नहीं करता है।

भीष्मजीने धर्मको सत्यस्वरूप और ब्रह्मस्वरूप कहा है क्योंकि-जो सत् है वहही सत्य है। सत्यही भगवान्की प्रकृति है। प्रकृति की सकल विधि सत्यका प्रकाशमात्र है। वह निरन्तर अपरिवर्त्तनीयभावसे संपन्न होता रहता है। अनेकों अनात्म पदार्थों में भी आत्माका एकत्व ही महासत्य है। अन्य सबोंका सत्य और विधि भी उस सत्यकी ही प्रतिस्फूर्ति है। यह सत्य नीतिशास्त्र में सबको आत्मवत् समझनेका उपदेश देता है हमको सदा सत्य बात कहना चाहिये, क्योंकि किसीसे झूठ बोलने पर उस को धोखा देना मानो अपनेको धोखा देना है क्योंकि-जो कुछ हम जानते हैं, वह दूसरे एक आत्मस्वरूपको न जानने देनेसे भेदभाव होता है। जानकर या अनजानमें असत्य व्यवहार करने पर ऐसा भेदभाव होजाता है तब अनेकों प्रकारका कष्ट आपड़ता है और पापकी उत्पत्ति होती है। जैसे धर्म सत्यस्वरूप है तैसे ही नीति भी है। क्योंकि–सत्यसे ही एकत्व बढ़ता है और असत्य व्यवहार ही भेदभाव होनेका कारण है।

हिन्दू साहित्यमें वर्णन किएहुए महापुरुषोंका एक प्रधानगुण सत्यवादी होना है. मैंने आजन्म कभी झूँठ नहीं बोला, यह वाक्य महान् वीर पुरुषोंको परमप्रिय है। श्रीकृष्णजीने प्रतिज्ञाकी थी कि कुरुक्षेत्रके युद्धमें अस्त्रधारण नहीं करूँगा, परन्तु जब अर्जुनकी सहायताके लिये भीष्मजीके ऊपर आक्रमण करनेको उद्यत हुए तब अर्जुनने कहा कि-आप अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग न करिये। युधि-

ष्ठिरने भी इसीकारण जयकी आशासे हताश होकर भी श्रीकृष्ण जीसे सहायता करनेकी प्रार्थना नहीं की. युधिष्ठिरने भयंकर प्रयोजनमें पडकर सत्यमार्गसे बिंदुमात्र चलायमान हो द्रोणाचार्यके सामने 'अश्वत्थामा हत इति गजः' ऐसा कहा था। उसके फलसे उनको नरकका दर्शनतक करना पडा और युद्धके समय रथके पहियेकी शक्ति नष्ट होगई थी। पांडवोंके वनवासके समय श्रीकृष्णने युधिष्ठिरसे कौरवोंके प्रतिकूल सेना भेजनेको कहा था। परन्तु ऐसा करनेमें उनके बनबासकी प्रतिज्ञाकी ठीक २ रक्षा नहीं होती थी, इसकारण युधिष्ठिरने कहा था कि-पांडुपुत्र सत्यमार्गसे विचलित नहीं होंगे। विशेष हानि होनेपर भी प्रतिज्ञाकी रक्षा करना ही पुरुषार्थ है। जिस समय प्रल्हादने इन्द्रसे त्रिलोकीका स्वामित्व ग्रहण किया था, उससमय इन्द्र ब्राह्मणके कपटवेषमें प्रल्हादके शिष्य बने थे, प्रल्हाद उनके ऊपर इतने प्रसन्न हुए कि-उनको इच्छित वर माँगने आज्ञा दी, इन्द्रने उनसे उनका शील अर्थात् स्वभाव चरित्र आदि माँगा था। यद्यपि प्रल्हाद समझगये थे कि-शील देदेने पर अपना अनिष्ट होगा, तथापि अपनी प्रतिज्ञा भंग नहीं की।

जिस समय भीष्मजीकी सौतेली माता सत्यवतीने उनसे राज्यसिंहासनको स्वीकार और विवाह करनेको कहा तब भीष्मजीने उत्तर दिया था कि मैं त्रिलोकीका परित्याग करसकता हूँ स्वर्गका राज्य वा उससे भी अधिक जो कुछ है वह सब त्याग सकता हूँ, परन्तु सत्यसे नहीं डिगसकता। पृथिवी चाहे गंधको त्यागदेय, जल चाहे गीलेपनको त्यागदेय, उजाला चाहे अपने प्रकाशभावको त्यागदेय, वायु चाहे अपनी स्पर्शशक्तिको त्याग देय, अग्नि चाहे अपनी गरमाईको त्यागदेय, चन्द्रमा चाहे अपने शीतलगुणको त्यागदेय, शून्य चाहे अपनी शब्द उत्पन्न करने

की शक्तिको नष्ट करदेय, इन्द्र चाहे अपने बलके घमण्डको छोड़ देय और धर्मराज भी चाहे अपनी न्यायपरायणताको छोड़ दें, परन्तु मैं अपनी सत्य प्रतिज्ञाको नहीं छोड़ सकता ।

दृढ़प्रतिज्ञ कर्णने स्वाभाविक धर्मके साथ जन्म ग्रहण किया था देवता पांडवोंके पक्षमें थे । पीछे भारतयुद्धमें अर्जुन उस स्वाभाविक धर्मके कारण ही कर्णको नहीं जीत सकते थे, इस भयसे देवता बड़े व्याकुल हुए थे । कर्णका नियम था कि-वह प्रतिदिन प्रातःकालसे मध्यान्हतक पूर्वकी ओरको मुख करके बैठा हुआ वेदका गान किया करता था; उसकी प्रतिज्ञा थी कि-उससमय कोई भी ब्राह्मण उसके समीप आकर जो कुछ माँगता था वह उसको वही दिया करता था । एक दिन इंद्र बूढ़े ब्राह्मणका वेष धरकर उसी समय पर आकर कर्णसे भिक्षा माँगने लगे, कर्ण ने कहाकि-यदि तुम्हारी माँगीहुई वस्तु मेरे वशकी होगी तो मैं अवश्य ही दूँगा, तब इन्द्रने कहाकि-तुम मुझको अपना सहज धर्म दो । कर्णने कहा, कि-तुम्हारे इसप्रकारकी भिक्षा माँगनेसे मैं समझगया कि तुम सरल स्वभावके ब्राह्मण नहीं हो, साक्षात् देवराज इन्द्रने पाण्डवोंके मङ्गलकी कामनासे मुझसे यह भिक्षा माँगी है, खैर जो कुछ हो । जब कि-मैं देऊँगा, यह शब्द मुखसे कहचुका हूँ, तब देना होगा ही, यह बात पलट नहीं सकती । यद्यपि मैं समझता हूँ; कि-आपकी माँगी हुई वस्तु देने पर मुझको प्राण तक देने पड़ेंगे । इतना ही नहीं किन्तु प्राणोंसे भी अधिक प्रिय अर्जुनको जीतनेकी मेरी आशा भी नष्ट होतीहै, तथापि मैं अपनी बातको नहीं लौट सकता, इतना कहकर कर्णने अपनी तलवारसे उस सहजधर्मको शरीरसे अलग करके इंद्रके हाथमें देदिया । उससे फल क्या हुआ! अर्जुनको जीतनेसे उस की जो कीर्ति होती आज भी उससे सौगुणी कीर्ति दीर्घजीवन और बडे भारी नामके वह अधिकारी होरहे हैं ।

राजा दशरथ अयोध्यापुरीके स्वामी थे। एकदिन वह देवताओंकी सहायताके लिये असुरोंका नाश करनेको गये, उनकी स्त्री कैकेयी उस युद्धमें साथ ही गई थी, दैत्योंके साथ युद्ध करतेमें जब राजा घायल होकर मूर्छित होगये, तब कैकेयीने उनको एकान्त स्थानमें लाकर प्राणरक्षा तथा यत्न और शुश्रूषाके द्वारा उनकी मूर्छा दूर की. इसके लिये राजाने कैकेयीको दो वर देनेकी प्रतिज्ञा की थी। कैकेयीने जब उस समय उन वरोंको न लेकर कहा कि मैं अपने इन वरोंको फिर कभी लेलूँगी। बहुत दिनोंके अनंतर जब राजाके बड़े पुत्र रामचंद्रजीके राज्याभिषेककी तयारी हुई उससमय कैकेयीने दासी कुब्जाकी सम्मतिके अनुसार एक वरसे रामचन्द्रजीको चौदहवर्षके लिये वनवास और दूसरे वरसे अपने पुत्र भरतको राज्यभिषेक मांगा। राजाने समझा कि यह वरदान देनेसे अवश्य ही मेरी मृत्यु होजायगी, तथापि सत्यका भंगहोनेके भयसे वरदान देकर अपने आप मृत्युके मुखमें पड़े।सत्यका नाश होनेकी अपेक्षा प्राणोंका नाशहोना उन्होंने अच्छा समझा।
चौ०रघुकुल रीति सदा चलिआई। प्राण जाहिं पर वचन न जाई

देवराज बलि स्वर्गको जीतकर त्रिलोकीके एकछत्र अधिपति बनगए थे। जब उन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया तब विष्णुने वामन स्वरूपसे उनके यज्ञमें जाकर तीन चरण भूमिकी भिक्षा मांगी. दैत्यगुरु शुक्राचार्यने ऐसा दान करनेसे बलिको रोकना चाहा और कहा कि यह वामन स्वयं विष्णु हैं, तुझको छलके द्वारा बाँधनेको आये हैं। इसके उत्तरमें बलिने कहा कि—प्रह्लादका पोता झूठी बात कहना नहीं जानता, मैंने इस ब्राह्मणके बालकको जो कुछ देनेके लिये कहदिया है वह अवश्य ही दूँगा। बालक चाहे विष्णु हो और चाहे मेरा परम शत्रु ही हो उसमें कुछ आता जाता नहीं, जब वामनने दोही पगमें त्रिलोकीको नापलिया तब बलिने तीसरे चरण भूमिके बदलेमें अपना मस्तक अर्पण करके अपने

सर्वनाशको ही महासंपत्ति माना । यह देख भगवान् विष्णुने उसको आशीर्वाद देकर कहा कि -समस्त धनसंपदा गई, शत्रुके हाथमें बन्दी होगये, बान्धव, छोडगये, गुरुने बुराभला कहा, तब भी हे बलि ! तुमने सत्यका त्याग नहीं किया । पुराणोंमें कहा है कि-इस महत्कार्यके कारण, जब पुरंदरका इन्द्रपद पूराहुआ तब बलिने इन्द्रपदवी पाई ।

सत्य ब्रह्मस्वरूप है, नृसिंहतापनी उपनिषद्‌में लिखा है कि-'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म' । परब्रह्म ही सत्य और पुण्यस्वरूप है, इसलिये जो ब्रह्मको खोजते हैं उनको सत्यवादी बनना चाहिये इसकारण बालकोंको सत्यवादी होना सबसे अधिक आवश्यक है ॥

जायमानो ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते ।
यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः स्वाध्यायेन ऋषिभ्यः ॥

(मनुटीकायां कुल्लूकधृतवेदवचनम्)

ब्राह्मण जन्मते ही तीन ऋणोंका ऋणी होता है । वह तीन ऋण यह हैं-देवऋण, पितृऋण, और ऋषिऋण । यज्ञ करनेसे देवऋण; सन्तान उत्पन्न करनेसे पितृऋण और सदा वेदका स्वाध्याय करनेसे ऋषिऋण छूटता है ॥

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।
अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥ ३५ ॥
अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ ३६ ॥

तीन ऋणोंको चुकाकर मोक्षमें मन लगावै, विना ऋणोंको चुकाये मोक्षकी चेष्टा करनेसे अधःपतन होता है ॥३५॥ विधिपूर्वक वेदशास्त्रोंको पढ़कर, धर्मसे पुत्रोत्पत्ति करके तथा अपनी शक्तिके अनुसार यज्ञ करके मोक्ष पानेके लिये मन लगावै ३६

परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

परस्पर सहायता करके परमश्रेय पाओगे॥११॥ इस चक्रको छोड़कर जो अपने सुखको खोजता है उसका जीवन पापमय जानो, इन्द्रियोंके आराममें ही मन रखता हुआ वह हे पार्थ! वृथा ही जीता है ॥ १६ ॥

सत्यं सत्सु सदा धर्मः सत्यं धर्मः सनातनः।
सत्यमेव नमस्येत सत्यं हि परमा गतिः॥
सत्यं धर्मस्तपो योगो सत्यं ब्रह्म सनातनः।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥
सत्यं नामाव्ययं नित्यमविकारि तथैव च।
सर्वधर्माविरुद्धेन योगेनैतदवाप्यते ॥
सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः।
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षाऽनसूयता ॥
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं दया।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदश ॥

(महाभारत अनुशासनपर्व १६२ अ०)

सत्य ही साधुओंका धर्म है,सत्य ही सनातनधर्म है। सज्जन सत्यको ही नमस्कार करते हैं, सत्य ही परम गति है, सत्य ही धर्म और तप है, सत्य ही सनातन ब्रह्म है, सत्य ही योग जप है, सत्यको ही श्रेष्ठ यज्ञ कहा है, सत्यमें ही सब प्रतिष्ठित है,सत्य ही नित्य अविकारी है सत्य ही अविनाशी है, यह सकल धर्मोंके अविरोधी योगसे प्राप्त होता है। समता, दम, अमत्सरता, क्षमा, लज्जा, सहनशीलता, ईर्षा न करना, त्याग, ध्यान, आर्यभाव, धैर्य, दया अहिंसा यह तेरह सत्यके आकार हैं ॥

चत्वार एकतो वेदाः साङ्गोपाङ्गाः सविस्तराः।
स्वधीता मनुजव्याघ्र सत्यमेकं किलैकतः ॥

(महाभारत वनपर्व ६३ अ०)

अंग उपांगों सहित विस्तारके साथ सुन्दररीतिसे पढे हुए

चारों वेद तराजूके एक ओर और केवल एक सत्यको दूसरी ओर रक्खो तो वेदोंसे सत्य भारी उतरेगा ॥

आत्मन्यपि न विश्वासस्तथा भवति सत्सु यः ।
तस्मात्सत्सु विशेषेण सर्वः प्रणयमिच्छति ॥

(महाभारत वनपर्व २९१ अ०)

मनुष्यका सत्मनुष्यों पर जितना विश्वास होता है उतना अपने ऊपर भी नहीं होता इसीकारण मनुष्य सत्-जनोंके साथ प्रेम करनेकी हरसमय इच्छा करते हैं ॥

सत्यं सदा शाश्वतधर्मवृत्तिः सन्तो न सीदन्ति न च व्यथंते ।
सतां सद्भिर्नाफलः संगमोऽस्ति सद्भ्यो भयं नानुभवन्ति सन्तः ।
सन्तो सत्येन नयन्ति सूर्यं सन्तो भूमिं तपसा धारयन्ति ।
सन्तो गतिर्भूतभव्यस्य राजन् सतां मध्ये नावसीदन्ति सन्तः ।

सत्-पुरुषोंकी सदा सनातनधर्ममें प्रवृत्ति रहती है, साधु कभी खिन्न वा दुःखित नहीं होते हैं, साधुओंका समागम निष्फल नहीं होता है, साधुको देखकर साधु कभी भयभीत नहीं होते हैं । साधुओंके सत्यके बलसे सूर्यका उदय होता है, साधुओंके सत्यके बलसे पृथिवी ठहरी हुई है, साधु ही भूत भविष्यत् की गति हैं और साधुओंमें साधु कष्ट नहीं पाते हैं ॥

यतः प्रभवति क्रोधः कामो वा भरतर्षभ ।
शोकमोहौ विधित्सा च परासुत्वञ्च तद्वद ॥
लोभो मात्सर्यमीर्षा च कुत्साऽसूयाऽकृपाभयम् ।
त्रयोदशैतेऽतिबलाः शत्रवः प्राणिनां स्मृताः ॥

(महाभारत शांतिपर्व, २३ अ०)

क्रोध काम शोक मोह विधित्सा, परासुता, लोभ, मत्सरता ईर्षा कुत्सा असूया अकृपा और भय यह तेरह मनुष्यके बड़े भारी शत्रु हैं ॥

यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशंकते ।

तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेन्यं पुरुषं विदुः ॥ ४६ ॥

(मनु ८ अ०)

जिसके राज्यमें क्षेत्रज्ञको आशंका नहीं होती है देवता उससे दूसरे किसीको श्रेष्ठ नहीं कहते ॥ ४६ ॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

(गीता २ अ०)

तेरा अधिकार कर्म करनेमें ही है, कर्मफलोंमें कदापि नहीं, कर्मफलकी आशाको त्याग और अकर्मके संगसे सदा बच ॥

ऋतं सत्यं परं ब्रह्म

(गोपालतापनी १ अ०)

सत्य परब्रह्मका स्वरूप और परम पवित्र है ॥

❀ षष्ठ अध्याय ❀

आनन्द और भाव

ईश्वर चितामय, गतिमय और आनन्दमय है इसकारण उस की सन्तान मनुष्योंमें भी यह तीनों गुण वर्त्तमान हैं।जब जीवात्मा स्थूल आवरणमें ढकाहुआ होता है उससमय उसकी आनन्दमय प्रकृति चिरकालतक आनन्दको खोजनेमें लगी रहती है । जगत् के साथ सम्मिलन होनेसे उसकी जो आनन्द पानेके लिये चेष्टा होती है वह बाहरी चेष्टा ही वासना कहाती है । जब वासना जीवात्माको ऐसे किसी पदार्थके साथ बाँधदेती है कि जिसमें सुख मिलता है, तब उस पदार्थको पानेके लिये बार २ वासना होती है । इस वासनासे जिस भावका उदय होता है, उसका नाम अनुराग है । यदि जीवात्माको किसी पदार्थके साथ संग होनेसे कष्ट होता है तब उस पदार्थको त्यागनेकी वासना उत्पन्न होती है उसके द्वारा जिस भावका उदय होता है, उसका नाम विराग वा घृणा है । पहिले कहे हुए भावके द्वारा जीवात्मा और पदार्थमें एक

प्रकारका आकर्षण और दूसरे भावके द्वारा विप्रकर्षण (विलग होना) उत्पन्न होता है।

जीवात्मा इस अनुराग और विरागके विषयमें परस्पर विचार करके अन्तमें सद्भावमें भाव (अनुराग) करनेका अभ्यास करने लगते हैं। सकल भाव इस प्रकार ईश्वरेच्छाकी अनुगत युक्तिके द्वारा चालित होकर धर्मस्वरूपको प्राप्त होजाते हैं। इस लिए भाव की स्पष्टतासे मनुष्यकी नीतिविषयक उन्नति होती है। यदि मनुष्य भली वासना नामक प्रेमभावको पुष्ट करते हैं तो क्रमसे उनकी परिवार, समाज, जाति और सकल विश्वके साथ एकता (मेल) उत्पन्न होती है। उनका अपनी समान भला चाहे, यह वासना धीरे २ बढ़ती हुई, प्रेमरूपको प्राप्त हो अंतमें आनन्दमय होजाती है। इसी लिये छान्दोग्य उपनिषद्में लिखा है—

यो वै भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ति, नान्यद्विजा-
नाति, भूमैव सुखम् ॥२३॥१॥ यत्र नान्यत्पश्यति,
नान्यत् शृणोति, नान्यद्विजानाति, स भूमा ॥ अथ
यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्।
यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् ॥२४॥१॥
(छान्दोग्य ७। २३-१। २४-१)

जो अनन्त है वह ही सुख है, जो अल्प है उसमें ही सुख नहीं है, अनन्तमें ही सुख है। जहाँ पहुँचने पर कुछ देखा, सुना वा जाना नहीं जाता है वह ही अनंत है परंतु जहाँ और कुछ देखा जाता है, और कुछ सुनाजाता है तथा और कुछ जानाजाताहै, वह अल्प है। जो अनन्त है वही अमृत है, जो अल्प (थोड़ा) है वही मर्त्य है।

इसप्रकार विकाशवश सायुज्य होता है अर्थात् ईश्वरकी इच्छा स्वतन्त्र जीवात्माओंका एकत्र सम्बंध करके अपनेमें मिला लेती है। इस मिलनेमें ही सुख है, इसलिये जो सत् है वही सुखी है।

बार २ सनातनधर्म यह मीमांसा करता है कि ब्रह्मही आनन्दहै इसी कारण ब्रह्मरूप जीवात्मा भी आनन्दमय है। जब जीव गन्तव्य मार्गको छोड़कर कुमार्गमेंको जाता है, उसीसमय आनन्द का अभाव होजाता है, इस कारण ईश्वरकी इच्छाका विपरीत भाव ही अधर्म है।

ब्रह्म वेदं सर्वं सच्चिदानन्दरूपं।
सच्चिदानन्दरूपं इदं सर्वम् ॥ ७ ॥

(नृसिंहतापनी)

वह सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप है, यह सब ब्रह्मरूप, सत् चित, आनन्दमय है।

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू-
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ॥ ७ ॥

(कठ ४ वल्ली)

स्वयम्भूने इन्द्रियोंके द्वार बाहरको कर दिये इसीलिये मनुष्य भीतरको नहीं देखता है ॥ ७ ॥

यदा वै सुखं लभतेऽयं करोति नासुखम्।
लब्ध्वा करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति ॥ ७ ॥

(छान्दोग्य ७। २२। १

जीव जिसमें सुख पाता है, सदा वही करता है, जिसमें सुख नहीं मिलता उसको कभी नहीं करता है।

सुखचैतन्यस्वरूपोऽपरिमितानन्दस-
मुद्रोऽविशिष्टसुखस्वरूपानन्द इति।

(सर्वसार)

सुख और चैतन्यका अनन्त सागर आनन्द ही सुख है उस से बढकर सुख और कोई नहीं है।

इष्टविषये बुद्धिः सुखबुद्धिः, अनिष्टविषये बुद्धिः दुःखबुद्धिः।

(सर्वस)

इष्ट विषयकी बुद्धि सुखबुद्धि है और अनिष्ट विषयकी बुद्धि दुःखबुद्धि है।

सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते। सर्वाणि दुःखस्य भृशं त्रसन्ते २७

महाभारत शान्तिपर्व २३१

सुखमें सब आनन्दित होते हैं और दुःखसे सब डरते हैं २७

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥ २७ ॥

(गीता ७ अ०)

हे शत्रुनाशक अर्जुन! प्राणी जब इस शरीरको धारण करते हैं तब अनुराग और द्वेषमूलक सुख दुःखादि जनित मोहसे एक साथ अंधे होजाते हैं इसीलिये आत्माका दर्शन नहीं करसकते ॥२७॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

(गीता अ० १३)

इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, शरीर, चेतना और धैर्य इसको संक्षेप में विकारसहित क्षेत्र जानो ॥ ६ ॥

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ॥

(गीता ३ अ०)

यह काम और क्रोध रजोगुणसे उत्पन्न हैं ॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥

(गीता ३ अ०)

इन्द्रियोंका इन्द्रियके लिए रागद्वेष है, उनके वशमें नहीं होना चाहिये क्योंकि-वह शत्रु हैं ॥ ३४ ॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

(गीता २ अ०)

रागद्वेषहीन और अपने वशीभूत इन्द्रियोंके द्वारा जो जितेन्द्रिय

पुरुष विषयसुखको भोगता है, वह चिरकाल तकके समयको शांति सुखके साथ बिता देता है ॥ ६४ ॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥
(गीता १६ अ०)

जो शास्त्रकी विधिको छोड़कर यथेच्छाचारसे वर्त्तता है वह सिद्धि कभी नहीं पाता और न सुख पाता है न शांति पाता है।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥

जो एक सकल प्राणियोंका नियंता अन्तरात्मा है जो कि एकरूपको ही अनेक रूप कर लेता है उस अन्तर्यामीका जो ज्ञानी अपनेमें दर्शन करते हैं, उनको ही नित्य सुख मिलता है औरों को नहीं मिलता है ॥

❀ सप्तम अध्याय ❀

आत्मानुगत धर्म

इससे पहिले कहाजाचुका है कि—जीवात्माका अपने समीपके समूहके साथ संबन्ध है, सम्बन्धको सुखदायक बनादेना ही नीतिशास्त्रका उद्देश्य है, परन्तु अपने देहकोषोंके साथ जीवात्माका विशेष सम्बन्ध है, इस बातको भूलजानेसे काम नहीं चलेगा। यह अनात्म पदार्थकी वर्त्तमान समयमें उसके सबकी अपेक्षा अपने हैं, इसलिये उनके साथ ठीक २ सम्बन्ध हुए बिना उसका अन्य देहोंके साथ कदापि सुखदायक सम्बन्ध नहीं होसकता। जबतक बालक जीवात्मा रहता है तबतक यह देह उसके ऊपर

प्रभुता रखते हैं और उसको अनेकों कष्टोंमें डाल देते हैं। उमर बढ़नेके साथ २ वह इन देहोंको अपने वशमें करनेकी चेष्टा करता है, इसके लिये उसको अनेकों युद्ध करने पड़ते हैं। तदनन्तर उस के आत्मशासन और संयमशक्तिकी पुष्टि होती है। जीवात्मा जो सकल कोष और अन्य वृत्तियोंपर प्रभुता करता है। इसका ही नाम संयम है। यह सकल देहोंके आश्रित धर्मका नवीन श्रेणी-विभागके अनुकूल आत्मानुगत धर्म है। सबही समझ सकते हैं कि–जिनमें यह सब गुण हैं वहही दूसरेके साथ साम्यभाव रख सकते हैं, दूसरे ऐसा नहीं कर सकते।

धर्मकी व्यवस्था देनेवाले मनुजीने आत्मसंयमकी विशेष प्रधानता मानी है और उसके विषयमें कितने ही सुन्दर उपदेश दिये हैं। उन्होंने कहा है कि कर्ममें तीन शक्ति हैं उन तीनोंको वशमें कर लेना चाहिये। कर्म,मन,वाणी और शरीरका आश्रय करके उत्पन्न होता है। यथा—

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसम्भवम्।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः॥

अर्थात् कर्म शुभ और अशुभ फलको उत्पन्न करता है, यह कर्म–देह, मन और वाणीसे उत्पन्न होता है, और इस कर्मके फलसे ही मनुष्यको उत्तम, मध्यम और अधम गति मिलती है।

मन वा मनोमय कोषका आश्रय करके सब प्रकारके भावकी उत्पत्ति होती है, उसको वशमें करना होगा। यह ही परमकठिन काम है। क्योंकि–मन निरन्तर वासनारूप पदार्थका अनुगामी है, यह निरन्तर अनेकों वस्तुओंके पानेकी अभिलाषाके द्वारा चालित और शासित होता है। सकल वासनाओंको पूरी करने के लिये व्यग्र और उन वासनाओंका दास होजाता है। जीवात्मा का पहिला कर्त्तव्य है कि–मनको उस दासभावसे छुटावे, फिर

उसको सकल इंद्रियोंकी शक्ति और इन्द्रियरूपी यन्त्रकी प्रभुता पर स्थापित करके अपने कार्यमें लगाती। प्रभुजीने कहा है—

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता॥
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते॥
एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्।
यस्मिन् जिते जितावेतौ भवतः पञ्चकौ गणौ॥

श्रोत्र त्वा चक्षु जिह्वा और नासिका तथा पायु उपस्थ हस्त पाद और दशवींवाणी है इनमेंक्रमसे श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियें और पायु आदि पाँच कर्मेंद्रियें कहाती हैं, ग्यारहवाँ मन है, जो कि अपने गुणसे ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय उभयात्मक कहाता है, इस मनको जीत सकनेपर पाँचों ज्ञानेन्द्रियें और पाँचों कर्मेन्द्रियें वशमें होजाती हैं। इसलिये छात्रोंको मनको वशमें करनेके लिये विशेष यत्न करना चाहिये। जब मन कुमार्गमेंको जाना चाहे, उस समय उसको लौटा कर सुमार्गमेंको प्रवृत्त करे। आत्मसंयम रूपी कार्यका यह ही प्रथम और अत्यन्त कठिन काम है।

दूसरा उपाय वाग्दण्ड है, बात कहनेसे पहिले विचार करके बात कहनी चाहिये। बिना विचारे बात कहनेसे अनेकों कष्ट उठाने पड़ते हैं। अर्जुन बात कहनेसे पहिले विचार करके नहीं देखते थे, इसीलिये उनको अनेकों समय अनेकों कष्टोंमें फँसना पड़ा था। एक वार उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि-यदि सूर्यास्त होने से पहिले पुत्रका वध करने वाले जयद्रथका वध न करसकूँगातो आत्मघात करके अपने प्राणोंको त्यागदूँगा। परन्तु उस दिन जयद्रथको पानेकी कुछ आशा ही नहीं थी। केवल श्रीकृष्णजी के चक्रसे धोखा खाकर सूर्यास्तसे बहुत पहिले संध्याके भ्रमवश बाहर निकल आये थे। अर्जुनने भी अपनी प्रतिज्ञाको पूरी करने

का यह अवकाश पा लिया। एक बार युधिष्ठिरके साथ विवाद उप स्थित होनेपर उनकी जैसी अवस्था हुई थी, वह सब कथा महाभारतमें विस्तारके साथ वर्णित है। किसी एक भी प्रतिज्ञाकी रक्षा नहीं करसके, इसीलिये अर्जुनको महाप्रस्थानके समय मार्गमें ही प्राणत्याग करना पड़ा था। अर्जुनके देहत्यागका कारण बूझाजाने पर युधिष्ठिरने कहा था कि-अर्जुनने प्रतिज्ञा की थी कि एक दिन सब शत्रुओंको नष्ट करडालूँगा, परन्तु अपनी वीरता के अहंकारमें जो प्रतिज्ञाकी थी उसको पूरी नहीं करसके इसीलिये उनका पतन हुआ, जो वाग्दण्डमें समर्थ होता है, उसको आत्मसंयम करनेमें अधिक विलम्ब नहीं लगता है।

तीसरा देहदण्ड है। भौतिक शरीरका भी दमन करनेकी आवश्यकता है, जिससे कि-वह हमको अनुचित कर्ममेंको चलाकर पापग्रस्त न करदेय। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है-

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

जवानीकी अवस्था ही देहके दमन करनेका समय है, क्योंकि उस समय ही इसको सहजमें जीतकर सन्मार्गमें चलायाजासकता है। देह अभ्यासका दास है, यद्यपि प्रथम २ जीवात्माकी इच्छा के अनुकूल होनेमें कष्ट प्रतीत होता है, परन्तु अटल निश्चयके साथ बहुत थोड़ासा उद्योग करने पर अति सहजमें ही देहका संयम होजाता है। एक बार अभ्यास करा देने पर देह को अभ्यस्त मार्गमेंको चलादेना बहुत कठिन नहीं होता है।

आत्मसंयमके द्वारा हमको जिन पापों और दुःखोंकी जड़को नष्ट करना होगा, उनमें स्वार्थकी वासना ही सबसे बढ़कर है क्यों कि कठिनतासे पूरी होनेवाली भूतलके सुख और सम्पदाओंकी कामनाओंसे ही बहुतसे दुःखोंकी उत्पत्ति होती है, उन कामनाओं को त्याग देनेसे ही शांति मिलती है, कामनाओंको पूरी करने

से शान्तिलाभ होना कठिन है। इस बातको मंकी समझगए थे मंकीने लोभवश धनके लिये बहुत कुछ उद्योग किया, परन्तु उन की आशा पूरी नहीं हुई। वह अपने बचे बचाये धनसे बैलोंके दो बछड़े खरीदकर उनको हल चलानेके लिये अभ्यास कराने लगे परन्तु भाग्यवश यह दोनों जिस एक रस्सीमें बंधे थे वह एक जाते हुए ऊँटमें उलझ गई, उसमें ही खिचड़कर और लटककर उन बछड़ोंकी मृत्यु होगई, इस अंतको दुर्घटनाके होने पर मंकीके हृदयमेंसे कामना दूर होगई, तब मंकीने गान करनेका आरम्भ किया कि-जो सुखकी आशा करता हो उसको विषयवासना त्याग देनी चाहिये। शुकदेवजीने ठीक ही कहा है कि-यदि दो जनोंमें एक मनुष्य अपनी सब अभिलाषाओं को पाजाय और दूसरा अपनी सब अभिलाषाओंको त्यागदेय तो पहिलेकी अपेक्षा दूसरा निःसंदेह बहुत ऊँचा है क्योंकि-आजतक किसीने वासनाओंकी अवधि पाई ही नहीं है, हे आत्मन्! तुम इतने दिनोंसे लोभके दासथे, आज दासभाव छूटा है; इस समय स्वाधीनता और शांतिके मधुर स्वाद का उपभोग करो। इतने दिनोंसे सोरहा था, अब नहीं सोऊँगा जागता ही रहूँगा। हे वासना! अब तू मुझको नहीं भुलासकेगी, जिस विषयमेंको तूने मेरे हृदयको खेंचा है, उसका अनुगामी होनेसे तूने मुझको जबरदस्ती उसीमें आसक्त किया है, वह वस्तु मुझको मिलसकेगी या नहीं, इसका एक बार विचार तक भी नहीं करने दिया। तुझको बुद्धि नहीं है, तू मूर्ख है, तू चिरकाल तक कभी तृप्त न होनेवाले अग्निकी समान निरन्तर धधकती रहती है, तुझको निरन्तर आहुति पानेकी वासना रहती है, तुझको तृप्त करना असम्भव है तू बड़ेभारी खाली मैदानकी समान है देखरहाहूँ मुझको दुःखके समुद्रमें डुबादेना ही तेरी एकमात्र वासना है। आज मैं तुझसे अलग होगया, हे कामना! अब आजसे मैं तेरा संग नहीं चाहता। अब मैं तेरा या तेरे दल

बलका विचार भी नहीं करूँगा। आजसे मैंने तुझको अपने मनकी सकल वृत्तियोंके साथ छोड़ा। मैंने अनेकों बार हताश होकर कष्ट भोगा है, आज मेरा मन शांत हुआ। आजसे मुझको जो कुछ स्वयंसिद्ध मिल जायगा उससे ही जीवनयात्रा का निर्वाह करूँगा, अब कामनाओंको पूरी करनेके लिये परिश्रम नहीं करूँगा, आज मैंने पहचान लिया कि-तू मेरी शत्रु है, तुझको दलबल सहित त्यागकर उसके बदलेमें शांति, आत्मसंयम, क्षमा, दया तथा मुक्ति पाई है। इसप्रकार मङ्कीने थोड़ा ही सा त्याग करके सब कुछ पालिया था!

ययाति राजाका वृत्तान्त भी सुनने योग्य है। उन्होंने वासना के वशीभूत हो, अपने पुत्रोंसे जवानी लेकर कभी पूर्ण न होने वाली लालसाको चरितार्थ करनेकी चेष्टा की थी, उपाख्यान इसप्रकार है—

चन्द्रवंशमें एक नहुषका पुत्र ययाति नामक राजा था, उसको इंद्रियोंको तृप्त करनेकी बड़ा लालसा रहती थी, इसीकारण उसके श्वशुर दैत्यगुरु शुक्राचार्यजीने उसको शाप देदिया था उस शापके कारण असमयमें ही बुढ़ापेने आकर उसको घेरलिया उस समय शुक्राचार्यजीको प्रसन्न किया तब उन्होंने कहा कि-तुम्हारे पुत्रोंमेंसे जो कोई चाहेगा हजार वर्षके लिये तुम्हारा बुढ़ापा लेकर अपनी जवानी तुमको देसकेगा। ययातिने क्रम२ से अपने पाँचों पुत्रोंसे बूझा तब छोटे पुत्र पुरुने उनको प्रसन्न करनेके लिये अपनी इच्छासे अपनी जवानी देकर हजार वर्षके लिये बुढ़ापा लेलिया।तदनन्तर हजार वर्ष तक निरन्तर इंद्रियों की सेवा करके भी राजाको तृप्ति नहीं हुई, उसकी इन्द्रियें वशमें न होने पर भी वासना दूर नहीं हुई। अन्तमें हजार वर्ष बीतने पर राजाके मनमें वैराग्य हुआ। राजाने समझा कि विषयभोग से वासनाकी तृप्ति नहीं होती है, किंतु उसको त्यागनेसे तृप्ति

होती है तब राजाने पुरुको बुलाकर अपना बुढ़ापा लौटालिया और उसको जवानी तथा अपना राज्य देकर बनको चलागया उस समय राजाने कहा था कि-

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥

अर्थात् कामना कामनाओंके भोगसे शान्त नहीं होती किन्तु घी डालनेसे जैसे अग्नि अधिकतर धधक उठती है, तैसे ही कामना बढ़जाती है ।

अब जरा श्रीकृष्णजीके कहेहुए अहिंसा शब्दके विषय पर भी थोडा सा विचार करना चाहिये । भीष्मजीने एक जगह उपदेश दिया है कि अहिंसा परमधर्म है,हमको किसीका अनिष्ट नहीं करना चाहिये, हमारा जीवन दूसरोंकी सहायताके लिये ही बना है, किसीको भी कष्ट देनेके लिये नहीं रचा गया है। यह अहिंसा देहके संयमसे उत्पन्न होनेवाला धर्म है बृहस्पतिजीने कहा है कि-जो पुरुष सकल प्राणियोंके ऊपर दया दिखाता है वह सबसे अधिक मङ्गल पाता है जो अपने लिये कष्टदायक हो वह व्यवहार किसीको भी दूसरेके साथ नहीं करना चाहिये; यह ही सत्कार्योंका मूल नियम है ।

मनुष्य अनेकों बार अनजानमें भी दूसरोंको कष्ट देता है उससे भी बहुत सी विपत्तियें पैदा होजाती हैं । जिससमय युधिष्ठिर, दुर्योधन और जो उनके भाई बालक थे,वह सब एक संग पढ़ा करते थे,भीमसेन उन सबसे बली थे,वह सबके साथ समय२ पर मल्लयुद्ध (कुश्ती)आदि किया करते थे और बालकस्वभाव वश चपलताके कारण असावधानभावसे दुर्बल और छोटी अवस्थाके बालकोंको भय भी दिखाया करते थे । जब बालक फल इकट्ठे करनेमें व्यस्त होते थे,उससमय दोनों हाथोंसे वृक्षको पकड़ कर हिलाते हुए उनको दिक कर डालते थे। कोई बालक पढ़े हुए

फलको समान वृक्षपरसे भूतलपर गिर पड़ता था तो भीमसेन हँसते हुये बड़ा आमोद मानते थे, परन्तु उस चोटके साथ किसी२ बालकके मनपर आघात पहुँचता था। किसी समय भीमसेन नदीपर स्नान करनेको जाकर जलमें गोता लगाजाते थे और साथमें ही कितने ही बालकोंकोभी गोता देकर मृतप्राय करदेते थे क्योंकि इनके शरीरमें अधिक शक्ति होनेके कारण गोता लगा-जानेमें भी कुछ कष्ट नहीं होता था; परन्तु और बालकोंके प्राणोंपर आबनती थी, इसमें भीमसेन बड़ा आमोद समझते थे, परंतु ज़रा विचार कर देखो, अंतको इसका परिणाम क्या हुआ? उस बालकपनकी मनकी मलिनताने ही बढ़कर, समयपर कौरव और पांडवोंमें शत्रुताका बीज बो दिया। उससे ही कौरव और पांडव दोनों दल भस्मीभूत होगये। भीमसेनकी वह बालकपनेकी चप-लता ही कुरुक्षेत्रके महासंग्रामका कारण हुई।

ठीक ही है कि शीघ्र बल उठनेवाले घासफूँसके बिना साधारण चिनगारीसे काठ नहीं जलता, पेशीके रोगयुक्त हुए बिना रोग के जीवाणु उसमें आश्रय नहीं पासकते, तथापि सर्वदाहक अग्नि की चिंगारीके विषयमें क्या हमको असावधान रहना चाहिये? मृत्युदायक रोगके जीवाणुओंसे हमको सदा सावधान रहना चाहिये। जब चपलताके कारण कोई अपने बलके भरोसे पर दुर्बलके ऊपर अत्याचार करता है, उस समय दुर्बल बदला नहीं लेसकता, यह ठीक है, परन्तु उसके हृदयके भीतर जो क्रोधका बीज उत्पन्न होता है, वह घृणा ईर्षा, आदिका स्वरूप धारण करलेता है। जो कुछ भी हो दुर्बलके ऊपर बलवानको अत्याचार करना सर्वथा अनर्थकारक है। जिसका मन दूसरे को पीड़ा देनेसे प्रसन्न रहता है, वह अपने आप ऐसे व्यवहार को चाहे अच्छा समझ बैठे; परन्तु न्यायकी दृष्टिसे देखाजाय तो वह क्षुद्रताका काम और उत्पीडन है। कुरुक्षेत्रके महा-

संग्रामके वृत्तान्त धीरताके साथ विचार करने पर पाण्डव पूर्णरूपसे प्रशंसाके पात्र और कौरव सर्वदा निंदाके पात्र नहीं होसकते।

मन, वाणी और देहके दण्डरूप त्रिदण्डको धारण करनेसे न्यायपरायणता और चरित्र उत्तम होता है तथा श्रेष्ठ व्यवहार करनेकी योग्यता उत्पन्न होती है। जिस पुरुषने अपनेको सबके साथ सत् सम्बन्धके सूत्रमें बाँध लिया है, जिसने अपने भाव देह, मन और आत्मानुगत धर्मको वशमें करलिया है, वह दूसरों के लिये अपने जीवनको बितासकता है।

मनुष्योंमें परस्परसम्बन्धके कारण जो पुण्य और पापकी उत्पत्ति होती है, इस बार हम उनके ही विषयकी आलोचना करेंगे। उनको तीन श्रेणीमें बाँटाजासकता है।

१-गुरुजनोंके साथ व्यवहार करनेसे उत्पन्न हुआ पाप और पुण्य
२-समान अवस्थावालोंके साथ व्यवहारसे जनित पाप और पुण्य
३-निकृष्टोंके साथ व्यवहारसे जनित पाप और पुण्य।

इसप्रकार हम जिन धर्मोंके द्वारा अपने समीपवालोंके साथ व्यवहारसे उत्पन्न हुए साम्यभावको पासकते हैं उनको श्रेणी बद्ध करके विचार करसकेंगे। सब ही धर्म पवित्र प्रेमसे उत्पन्नहुए हैं और उनका फल आनन्द है। सब पापोंकी मूल घृणा है और उसका फल दुःख है।

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसम्भवम्।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः॥ ३॥
तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः।
दशलक्षणयुक्तस्य मनोविद्याप्रवर्त्तकम्।
मानसं मनसैवायमुपभुङ्क्ते शुभाशुभम्॥ ४॥
वाचा वाचा कृतं कर्म कायेनैव तु कायिकम्॥ ८॥

वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कर्मदण्डस्तथैव च ।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते ॥ १० ॥
त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः ।
कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं नियच्छति ॥ ११ ॥
(मनु १२ अ०)

शुभ, अशुभ कर्म,मन वाणी और देहसे उत्पन्न होता है और उसीके अनुसार उत्तम,मध्यम तथा अधम गति होती है ॥ ३ ॥ देहीके मनका भाव मन वाणी और देहके आश्रयसे तीनप्रकारका होता है, उसके भीतरी दश लक्षण हैं, जिनको धारणकरके मन विद्याका प्रवर्त्तक होता है ॥४॥ मनके द्वारा करेहुए शुभाशुभ कर्मके फलको यह देही मनके द्वारा ही भोगता है, वाणीके द्वारा करेहुए कर्मके फलको वाणीके द्वारा भोगता है और शरीरके द्वारा कियेहुए कर्मके फलको शरीरसे भोगता है ॥८॥जिसकी बुद्धिमें वाग्दंड मनोदण्ड और देहदण्ड उत्तम रूपसे स्थित है उस को ही शास्त्र त्रिदण्डी कहता है, केवल हाथमें दण्ड लेलेना तो लोकदिखावा है ॥१०॥ काम क्रोधको दबाकर त्रिदण्डी होकर सकल प्राणियों का हित करनेमें तत्पर हो तब वह त्रिदण्डी की सिद्धिका फल पाता है ॥ ११ ॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितञ्च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनञ्चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥
मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानोंका पूजन शूरता सरलता ब्रह्मचर्य और अहिंसा यह शरीरका तप (देहदण्ड) कहाता है ॥ १४ ॥ किसीको उद्वेग न देनेवाला सत्य, प्रिय और हितकारी

वाक्य कहना तथा प्रतिदिन वेदपाठ करना यह वाणीका तप (वाग्दण्ड) कहाता है ॥१५॥ मनको प्रसन्न रखना, सौम्यभाव इन्द्रियोंको वशमें रखना, मौनभाव यह भीतरी भावका शुद्ध करने वाला मानस तप (मनोदण्ड) कहाता है ॥ १६ ॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एव विवर्द्धते ॥ ३७ ॥

महाभारत अनुशासनपर्व

कामनाओंके भोगनेसे कामनाकी शांति नहीं होती है, किन्तु जैसे घी डालनेसे अग्नि पहिलेसे भी अधिक बल उठता है तैसे ही विषयभोगसे कामना अधिक २ बढ़ती ही जाती है ३७ ॥

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्यन च गृह्यते ॥ ३५ ॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो निम्गैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

(गीता ६ अ०)

हे अर्जुना! निःसन्देह चञ्चल होनेके कारण मनका वशमें होना कठिन है, परन्तु अभ्यासयोग और वैराग्यकी सहायतासे वशमें होसकता है ॥ ३५ ॥ यह चञ्चल अस्थिर मन जब२ दौड़े इसको रोक कर अपने वशमें करे ॥२६ ॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि १० ॥

(गीता १२ अ०)

यदि अभ्यास योग करनेमें असमर्थ है तो तत्पर होकर मेरे निमित्त कर्म करता रहै,मेरे निमित्त कर्म करता हुआ भी सिद्धि पाजायगा ।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां
एको बहूनां यो विदधाति कामान् ।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ १३ ॥
(कठ ६ बल्ली)

नित्योंमें नित्य, प्राणोंका प्राण जो एक बहुत होकर कामनाओंको पूर्ण करता है, उस अपनेमें स्थितका जो ज्ञानी दर्शन करते हैं, वही नित्य शान्ति पाते हैं, दूसरोंको शान्ति नहीं मिलती १३

गोत्रजः सहजशत्रुरित्यसौ
नीतिरस्तु धनलोभदुर्धियाम् ।
वृद्धतुल्यलघुपुंवृतां जगद्
बोधनस्य पितृमित्रपुत्रवत् ॥ १७ ॥
(बालभारत उद्योगपर्व)

धनके लोभीदुर्बुद्धि कहा करते हैं कि-गोत्रका पुरुष स्वाभाविक शत्रु होता है, परन्तु जो ज्ञानधनके धनी हैं वह इसबातको ठीक नहीं मानते तथा वह बड़ोंको पिता समान बराबर वालोंको मित्र समान और छोटोंको पुत्र समान मानते हैं ॥ १७ ॥

अविजित्य य आत्मानममात्यान् विजिगीषते ।
अमित्रान् वा जितामात्यः सोऽवशः परिहीयते ॥ २९ ॥
आत्मानमेव प्रथमं द्वेषरूपेण योजयेत् ।
ततोऽमात्यानमित्रांश्च न मोघं विजिगीषते ॥ ३० ॥
(बालभारत उद्योगपर्व१३८अ०)

जो अपनेको बिना जीते मंत्रियोंको जीतना चाहता है अथवा मंत्रियोंको अपने वशमें बिना किये शत्रुओंको जीतना चाहता है उसकी विजय कभी नहीं होती है, किंतु अपना ही गर्व खर्व खोता है ॥२९॥ और जो पहिले अपने आपेको ही शत्रु मानकर जीत लेता है, और फिर शीघ्रतासे मन्त्रियोंको वशमें करलेता है तब रणमें शत्रुओंको अवश्य ही-जीत लेता है, उसका परिश्रम कभी निष्फल नहीं जाता ॥ ३० ॥

धर्मस्य विषये नैके ये वै प्रोक्ता मनीषिभिः।
स्वं स्वं विज्ञानमाश्रित्य दमस्तेषां परायणम्॥ ६ ॥
दमं निःश्रेयसे प्राहुर्वृद्धा निश्चितदर्शिनः।
ब्राह्मणस्य विशेषेण दमो धर्मः सनातनः ॥ १७ ॥
अदांतपुरुषः क्लेशमभीक्ष्णं प्रतिपद्यते।
अनर्थांश्च बहूनन्यान् प्रसृजत्यात्मदोषजान्॥ १३ ॥
आश्रमेषु चतुर्ष्वाहुर्दममेवोत्तमं व्रतम्।
तेषां लिंगानि वक्ष्यामि येषां समुदयो दमः॥ १४ ॥
क्षमा धृतिरहिंसा च समता सत्यमार्जवम्।
इन्द्रियाभिजयो दाक्ष्यं मार्दवम् ह्रीरचापलम् ॥ १५ ॥
अकार्पण्यमसंरम्भ सन्तोषः प्रियवादिता।
अविहिंसाऽनसूया चाप्येषां समुदयो दमः ॥ १६ ॥

ऋषि मुनियोंने अपने२ ज्ञानके आश्रयसे धर्मकी जो अनेकों शाखायें कही हैं, उन सबका परम आश्रय दम है ६ निश्चयदर्शन करनेवाले वृद्धोंने दमको ही परम मंगल देनेवाला कहा है और ब्राह्मणके लिये विशेष करके दमको सनातन धर्म कहा है॥१७॥ दमहीन पुरुष सदा क्लेश पाता है और इस अपने ही दोषसे उत्पन्न हुई और भी बहुतसी आफतोंमें पड़जाता है। १३। चारों आश्रमोंके लिये दम श्रेष्ठ व्रत है, उनके लक्षण कहता हूँ कि जिनके होनेसे दम उत्पन्न होता है १४ क्षमा, धैर्य, अहिंसा, समता, सत्य, सरलता, इन्द्रियोंको जीतना, चतुराई, कोमलता, लज्जा, चपल न होना ॥१५॥ कृपण न होना क्रोध न करना संतोष, मीठा बोलना किसीका चित्त न दुखाना, और किसीके गुणोंको देखकर दोष न निकालना, यह सब होनेपर दमका उदय होता है। १६।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥ ६२ ॥

(मनु ६ अ०)

धैर्य, क्षमा दम चोरी न करना शौच इन्द्रियोंको वशमें रखना शास्त्रानुकूल बुद्धि विद्याका अभ्यास सत्य बोलना और क्रोध न करना यह दश धर्मके लक्षण हैं ॥ ६२ ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः । ६३ ॥

अहिंसा सत्य बोलना चोरी न करना पवित्र रहना और इन्द्रियोंको वशमें रखना यह मनुजीने चारों वर्णोंका संक्षेपसे धर्म कहा है ॥ ६३ ॥

सत्यमस्तेयमक्रोधो ह्रीः शौचं धीर्धृतिर्दमः ।
संयतेन्द्रियता विद्या धर्मः सर्व उदाहृतः ॥ ६६ ॥

चोरी न करना क्रोध न करना सत्यभाषण लज्जा शौच, शास्त्रीय बुद्धि धैर्य दम इन्द्रियोंको वशमें रखना और विद्या इतनेमें सब धर्म कहदिया है ॥ ६६ ॥

अष्टम अध्याय

गुरुजनोंके साथ व्यवहार

निःस्वार्थ प्रेमसे हमारे आत्मत्यागकी वासना उत्पन्न होती है, और सर्व साधारणके हितकारी कार्यमें प्रवृत्ति होती है, इस कारण निःस्वार्थ प्रेमभाव ही धर्मकी मूल है, इसके द्वारा ही एकत्वकी प्राप्ति होती है। जो वासना हमको, दूसरेकी सामग्री लेकर अपने सुखके लिये दूसरेकी हानि करके भी वासनाकी सामग्री में हस्तक्षेप करनेको प्रवृत्त करती है वह पापका मूल है इससे ही भेदभावकी उत्पत्ति होती है। जिससे प्रेमभाव करते हैं उसके लिये ही हम त्याग करना चाहते हैं, इस त्याग करनेकी चाहना में आनन्द होता है। इससे ही हम समझसकते हैं कि-परम गंभीर

सुख, यथार्थ आनन्द, त्यागसे ही प्राप्त होता है, वह ही जीवात्मा का आनन्द है और किसी वस्तुके ग्रहणसे जो आनन्द प्राप्त होता है वह देहका है।

प्रेमभावसे मनुष्य किस प्रकार गुरुजनोंके साथ व्यवहार करना सीखता है, इसकी आलोचना करनी है। मनुष्यके गुरु-ईश्वर राजा, पिता, माता, शिक्षक और वृद्ध लोग हैं।

ईश्वरसे प्रेम करनेके द्वारा ही हम उनका मान्य करते हैं, उन की साधना और उपासना करते हैं तथा उनकी इच्छाके अनुकूल होकर चलना चाहते हैं। जो ईश्वरसे प्रेम करते हैं, वह सब ही ईश्वरके प्रति ऐसे भाव दिखाया करते हैं। भीष्मजीने किसप्रकार विष्णुके अवतार श्रीकृष्णजीकी पूजा और सन्मान किया था। देखो राजसूय यज्ञके समय भीष्मजीने प्रथम ही श्रीकृष्णजीको धन दान करनेकी पंडितोंको अनुमति दी थी। नारदजीने कहा था कि-विश्वके आदि पुरातन श्रीकृष्णजीकी पूजासे जिनका मन पवित्र नहीं है वह मीठे वाक्य और श्रेष्ठ व्यवहारके योग्य नहीं हैं। जो पुरुष कमलदलनयन श्रीकृष्णजीकी पूजा करना नहीं चाहते हैं वह जीते हुए भी मरे हैं। तिसी प्रकार मरणके समय भीष्मजी शरीर वाणी और मनसे श्रीकृष्णजीका ध्यान करते हुए उनका आशीर्वाद पानेके लिये व्याकुल हो उठे थे। बड़े भारी व्याख्यानके अन्तमें उन्होंने विष्णुके सहस्र नामका कीर्त्तन किया और शरीर को त्यागनेसे पहिले श्रीकृष्णजीकी आज्ञा लेना ही उनका अन्तका वाक्य था।

दैत्यपति हिरण्यकशिपुके पुत्र प्रल्हादजी भगवद्भजनके प्रसिद्ध उदाहरण हैं। उनको गुरुने जितना उपदेश दिया उसके बदले में उन्होंने निरन्तर स्थिरभावसे हरिपूजा और हरिनामका कीर्त्तन ही किया उनके पिताने उनको मारडालनेका उद्योग किया परंतु इस भयसे भी उनकी भक्ति चलायमान नहीं हुई, उनकी हा-

भक्तिके गुणसे मदमत्त हाथी भी उनके ऊपर अपने चरणका प्रहार नहीं करसके, जिस भारी पत्थरसे दबाकर उनको कुचल डालनेका उद्योग किया गया था वह भी उनकी छाती पर रुई का गालासा मालूम हुआ। जिस तीखी तलवारसे उनका मस्तक उतारलेनेका विचार किया गया था, वह भी उनके शरीरसे छूते ही खुरखी होगई, जिस विषको पिलाकर उनके प्राण लेना चाहे थे, वह भी उनके लिये निर्मल शीतल जलकी समान प्यास को शांत करने वाला हुआ। अन्तको भगवान् नृसिंह रूप धार स्फटिकके खंभेको फाड़कर अवतीर्ण हुए और हरिभक्त प्रल्हाद को चिरकालके लिये विपत्तिसे छुटादिया।

ध्रुवने सौतेली माताके अनुचित व्यहारसे पिताके भवनको त्याग कर श्रीहरिकी आराधनाके लिये जैसी एकाग्रता, साहस और दृढनिश्चय दिखाया था, वह अतुलनीय था। श्रीहरिने उन को दर्शन देकर त्रिलोकीकी सीमासे बाहर ध्रुवलोककी स्थापना की, जिसमें स्थित होकर ध्रुवजी राज्य करते हैं।

श्रीरामचन्द्रजीके पूर्ण मानवचरित्रमें ईश्वरकी इच्छाके अनुवर्त्तन गुणका पूरा २ उदाहरण देखनेमें आता है। जब वह राज्यलाभसे वञ्चित हुए उस समय उन्होंने प्रसन्नताके साथ सबको शांत किया था, और सबको समझा दिया था कि— जगत्में जो कुछ होता है वह मंगलके लिये होता है। वह ऐसे प्रबल आँधीके झोकेमें परम शान्तभावसे अटल बने रहे।

इसके सिवाय जो परमपुरुषोंमें श्रद्धा नहीं रखते हैं हम पग २ पर उनका तिरस्कार देखते हैं। विश्वविजयी रावण लंकाका अधिपति था, उसकी समान पराक्रमी कितनेही राजे ईश्वरकी प्रतिकूलता करके नाशको प्राप्त होगये। मगधराज जरासंधने श्रीकृष्ण के वाक्यका तिरस्कार करके बन्दी राजाओंको न छोड़ा, इसी

कारण उसको भीमसेनके हाथसे प्राणत्याग करना पड़ा था। शिशुपाल कृष्णकी निंदा करके उनके चक्रके प्रहारसे परलोकवासी हुआ श्रीकृष्णजीकी सम्मतिका तिरस्कार करके दुर्योधन भाइयों सहित मारा गया। ऐसे असंख्यों उदाहरण दिखाये जासकते हैं। इससे यह शिक्षा मिलती है कि-जो ईश्वरका तिरस्कार करेगा,उसको अवश्य ही अकालमृत्युके मुखमें पडना होगा

राजभक्तिका भी शास्त्रमें वार २ उपदेश दिया है। उदाहरण से भी इसकी आवश्यकता प्रमाणित होती है। जिस समय युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थ (देहली)में राज्य करते थे उनके चारों भ्राताओंने दिग्विजयके लिये जा विजयमें मिला हुआ, धन लाकर उनके चरणोंमें अर्पण किया था। उन्होंने राजाके लिये ही युद्ध किया था, अपनी विजयकी अभिलाषाको पूर्ण करनेके लिये युद्ध नहीं किया। जिस समय युधिष्ठिर जुएमें हारकर वनवासी हुए उस समय प्रजाके लोग उनके पीछे २ जानेके लिये तयार हुए थे। तब युधिष्ठिरने कहा था कि-हे प्रजाके लोगों! तुम हस्तिनापुरको लौटजाओ और आजकलके अपनेयथार्थ राजाकी आज्ञाका पालन करो। क्योंकि-ऐसा करनेमें ही उनकी भलाई होना सम्भव थी।

राजा अपने कर्त्तव्यका ठीक २ पालन करता था, इसकारण ही राजभक्तिकी वृद्धि हुई थी। अङ्गिरावंशी उतथ्य युवनाश्वकुमारने राजा मान्धाताको उपदेश दिया था। उन्होंने कहा था कि-'हे मान्धाता! न्यायपूर्वक सबकी रक्षा करनेके लिये राजा की उत्पत्ति है अपनी इच्छानुसार कार्य करनेके लिये राजा पैदा नहीं हुआ है। राजा पृथ्वीका रक्षक है। राजा सद्भावसे कार्य करे तो भूतल पर ईश्वरकी समान पूजा पासकता है, परन्तु यदि अन्यायका व्यवहार करेगा तो उसको नरकमें जाना पड़ेगा सकल जीवोंकी रक्षा न्यायके साथ ही होसकती है, वह न्याय-

परायणता भी राजासे ही रक्षा पाती है, जो न्याय करता है; वही यथार्थमें राजा नाम पानेके योग्य है। यदि राजा अन्यायके व्यवहारको दण्डके द्वारा दूर नहीं करता है तो देवता उसके घरको त्याग जाते हैं और वह लोकमें निन्दा पाता है ।

देशका हित चाहना और जातिके गौरवकी रक्षा करनेकी इच्छा करना भी राजभक्तिकी समान श्रेष्ठ गुण है, यह तीनों परस्पर पृथक् नहीं रहसकते। राजा और स्वदेश दोनों राजभक्तिके लक्ष्य हैं। किसी मनुष्यमें भी स्वदेशभक्तिका अभाव नहीं होना चाहिये। सबको ही चाहिये कि-अपने देशके लिये प्राणतक त्यागने पड़ें तब भी पीछेको न हटें। क्योंकि देशहितैषीपन और अपनीजातिके गौरवकी रक्षाका ख्याल न होनेसे जातीय गौरव नहीं रहसक्ता परन्तु जातीय गौरवका होना भी सबकी अपनी२ और परिवार की उन्नतिके ऊपर निर्भर है। सम्पूर्ण समूह और उसके अंश भिन्न२ नहीं हैं। जातीय गौरवकी रक्षा करनेकी इच्छा होने पर देशके सकल निवासियोंकी उन्नति या दुःख अपना प्रतीत होने लगता है और वास्तवमें है भी यही बात इससे मनुष्यको दुर्बलकी विपत्तिसे रक्षा करनेके लिये और दुष्टोंको दण्ड देनेके लिये वासना उत्पन्न होती है। नियमके पालन और रक्षाके लिये यत्न होता है। न्यायके लिये खडे होनेकी प्रवृत्ति होती है और जातिको अवश्य देनेयोग्य वस्तु देनेमें भी कुछ आपत्ति नहीं होती है। भारतवर्षके पुरातन वीरपुरुष दूसरोंके मंगलके लिये कमर कसे तयार रहते थे। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको सकल प्राणियोंकी उन्नतिकी चेष्टा करनेके लिये और प्राणियोंको धर्ममार्गमें प्रवृत्त करनेके लिये उपदेश दिया था जो पुरुष केवल अपने और अपने परिवारके मंगलकी कामना करता है उसकी दृष्टि बड़ी ओछी है वह निःसन्देह अपने और परिवारके आगामी सुखको नष्ट करता है।

पूर्णरूपसे पिता माताका आज्ञाकारी होना चाहिये, यह आज्ञा सनातनधर्ममें सब ही जगह देखनेमें आती है । माता पिताके आज्ञाकारी होनेका उज्ज्वल दृष्टांत श्रीरामचन्द्रजी हैं, जिस समय राजा दशरथने विवश होकर केकैयीको श्रीरामचन्द्रजीके वनबास का वर दिया था, उससमय केकैयीने रामचन्द्रजीसे कहा था कि तुम्हारे पिता डरके मारे अपने मनकी बात प्रकट नहीं करसकते हैं, यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने कहा कि तो उनकेमनकी बात तुमही कहदो, मैं इसीसमय उसको पूर्ण करूँगा। पिताकी इच्छा पूरीकरने का समान तथा उनकी आज्ञाका पालन करनेकी समान क्या और भी कोई काम है? और सबोंकी सकल युक्तियोंके प्रतिकूल उन्होंने कहा कि- मेरी शक्ति नहीं है कि जो मैं पिताकी आज्ञाका उल्लंघन करूँ मैं पिताकी आज्ञाका पालन करूँगा. तदनंतर पिता का मरण होनेपर जब भरतजी किसीप्रकार भी राज्य ग्रहण करने को राजी नहीं हुये तबभी उन्होंने कहा कि तुमको राज्यसिंहासन ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि-पिताकी आज्ञासे जब मैं बनबासी होता हूँ तो तुमको भी राजा होना चाहिये, हमें तुम्हें दोनोंको पिताकी आज्ञा मानना उचित है । हमारे पिताजीकी आज्ञा मिथ्या नहीं होनी चाहिये ।

महाभारतमें हमने एक ब्रह्मज्ञानीकी कथा पढ़ी है । वह अपवित्र व्याधका शरीर धारण करके अपने माता पिताके समीप कनिष्क नामक ब्राह्मणको लाये थे । जिस सुन्दर घरमें उनके माता पिता रहते थे, उसी घरमें वह उस ब्राह्मणको लेकर गये और कहा कि-मुझको आजकल जो कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ है वह सब केवल माता पिताकी सेवासे ही प्राप्त हुआ है । उन्होंने मातापिताके चरणोंमें प्रणाम करके ब्राह्मणका परिचय कराया तदनन्तर ब्राह्मणसे कहा कि-यह माता पिता ही मेरे आराध्य देवता हैं। जो वर्ताव देवताओंके साथ करना चाहिये वही मैं इन

के साथ करता हूँ । ज्ञानियोंने जो तीन प्रकारकी अग्निकी कथा कही है, मैं इनको ही वह अग्नि मानता हूँ । हे ब्राह्मण! मेरी दृष्टि में यह ही यज्ञ है और यह ही चारों वेद हैं। पिता, माता, पवित्र अग्नि आत्मा और गुरु इन पाँचोंका सम्मान सबको करना चाहिये तदनन्तर उन्होंने कनिष्कसे कहा कि बूढ़े माता पिता को चिंतासे व्याकुल छोड़कर वेद पढ़नेके लिये घरका त्याग करना उचित नहीं है, किंतु तत्काल घरको जाकर उनकी सान्त्वना और शुश्रूषा करना चाहिये । हे ब्राह्मण ! शीघ्र ही लौटकर पिता माताके समीप चले जाओ और सावधानीके साथ ध्यान देकर उनकी शुश्रषा करके सन्तुष्ट करो । मैं इससे बढ़कर किसी धर्मको नहीं समझता ।

भीष्मजीने जिसप्रकार अपनी इच्छानुसार मृत्यु होनेका वर पाया था, वह किसीसे छुपा नहीं है । उन्होंने अपने पिताके विवाहके लिये स्वयं चिरकाल तक कौमारव्रत धारणकर राजसिंहासन त्यागदिया था चन्द्रवंशी राजा शांतनु सत्यवती नामकी सुन्दरी रमणीके साथ विवाह करनेकी अभिलाषा करके भी केवल प्यारे पुत्र भीष्मके लिये ही इस कार्यको नहीं करसकते थे । वह मनमें विचारते थे कि-सौतेली माता आकर मेरे प्यारे पुत्रके साथ न जाने दयापूर्वक व्यवहार करेगी या नहीं ? परंतु सत्यवतीके साथ विवाह न करसकनेके कारण उनका मन बड़ा ही दुःखित हुआ। भीष्मजी इस रहस्यको जानकर सत्यवती के पिताके समीप गये और उससे उसकी कन्याका अपने पिता राजा शान्तनुके साथ विवाह करनेका अनुरोध किया सत्यवतीके पिताने कहा कि राजा बूढ़ा होगया, अब शीघ्र ही तुम राजा होजाओगे मैं अपनी कन्या तुम्हारे हाथमें अर्पण करसकता हूँ परन्तु बूढे राजाको अर्पण नहीं करसकता भीष्मने कहा-यह

बात मनमें भी मत विचारो । हमारे पिताकी तुम्हारी कन्याके साथ विवाह करनेकी इच्छा है, इसकारण वह मेरी माताकी समान है, उसको तुम पिताको अर्पण करो । सत्यवतीके पिता ने कहा है कि-यदि तुम यह प्रतिज्ञा करो कि मेरी कन्याके गर्भसे जो पुत्र होगा, वही राजा होगा, तो मैं राजाके साथ अपनी कन्याका विवाह करदूँगा । भीष्मने कहा कि-मैंने अपना जेठेपनेका अधिकार छोड़ा, निःसन्देह सौतेली माताके गर्भसे उत्पन्न हुआ पुत्र ही राजा होगा। सत्यवतीके पिताने कहा कि मैं जानता हूँ कि-आपकी बात मिथ्या नहीं होसकती, परन्तु आपके पुत्र तो राज्यके लिये विरोध करेंगे भीष्मजीने कहा कि मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि-इस जीवनमें विवाह ही नहीं करूँगा तब मेरे पुत्र न होनेसे कोई विरोध करनेवाला होगा ही नहीं, अब तुम मेरे पिताकी अभिलाषा पूरी करो । उनकी इस भयङ्कर प्रतिज्ञाको सुनकर देवता एकसाथ कहने लगे कि-"इतने दिनोंसे तुम्हा नाम देवव्रत था, परन्तु आजसे तुम्हारा भीष्म नाम होगा । वह अपने लिये भीष्म हैं, परन्तु हिंदुओंके हृदयके वह परम प्यारे आराध्य देवता हैं। आज भी हरएक हिंदू अंततो गत्वा भीष्माष्टमीके दिन-

वैयाघ्रपद्यगोत्राय सांकृतिप्रवराय च ।
अपुत्राय ददाम्येतत्सलिलं भीष्मवर्मणे ॥

ऐसा कहकर तर्पण करता है ।

महाराज शान्तनुने जब सुना कि- उनके प्यारे पुत्रने अतिकठोर व्रत धारण करके सत्यवतीको उनकी पत्नी होना पक्का करलिया है तब उन्होंने सत्यवतीके साथ विवाह करलिया। उन्होंने आनंद भरे हृदयसे भीष्मजीको अपनी इच्छानुसार मृत्यु होनेका वर दिया । जो मनुष्य इसप्रकार मनकी वृत्तियोंको जीत सकते हैं वह मृत्युको जीत लेंगे, इसमें सन्देह ही क्या है ? ।

दूसरी ओर देखिये-दुर्योधनके उग्रस्वभाव और पिता माताकी आज्ञाको न मानने कारण ही महायुद्ध ठना था और उसके फलसे कुरुबंशका ध्वंस होगया। बार२ उसके पिता आदि गुरुजनोंने पांडवोंको उनका भाग देनेके लिये कहा, परन्तु दुर्योधनने उसको अनसुना करदिया। यहाँतक कि उसकी माता गांधारीने बीच सभामें पिताकी आज्ञाको पालनेका उपदेश दिया परन्तु दुर्योधनने उसका कहना न मानकर उल्टी सीधी सुनाई उस सकल पापके फलसे ही उसका सर्वनाश होगया जो सन्तान माता पिताके मनको कष्ट देती है, उसका कल्याण कभी हो ही नहीं सकता।

सनातनधर्मकी आज्ञानुसार शिक्षा देनेवाला गुरु भी माता पिताकी समान पूजनीय है। उनका सन्मान और सेवा करनी चाहिये प्राचीन हिन्दुओंमें इस गुरुभक्तिके भी अनेकों दृष्टांत देखने में आते हैं। वह भी हिन्दू बालकोंको आदर्श होने योग्य हैं-जब पाण्डव, भीष्म और द्रोणाचार्यके प्रतिकूल अस्त्र धारण करने को लाचार हुये उस समय भी उन्होंने भीष्म और द्रोणाचार्य के प्रति कितना प्रेम और कितना सन्मान दिखाया था। उन्होंने युद्धका आरम्भ होनेसे पहिले गुरुओंके चरणोंमें प्रणाम करने की सूचना दी। जिस समय धृष्टद्युम्न द्रोणाचार्यका वध करने को उद्यत हुआ। उस समय अर्जुनने चिल्लाकर कहा था कि-अरे! आचार्यको जीवित रख, उनका नाश न कर, वह वध करनेके योग्य नहीं हैं। जब द्रोणाचार्य मर गए तब अर्जुनने रोते २ कहा कि-मैं नरकमें डूब गया, अब लज्जाके कारण मैं मुख दिखलाने योग्य नहीं रहा।

सनातनधर्ममें पहिले प्रतिज्ञा और शास्त्रमें बताए हुए कर्त्तव्य (धर्म) की रक्षाके लिए, गुरुकी आज्ञाको न माननेका दृष्टांत देखनेमें आता है। इस धर्मके उदाहरणरूप भीष्मजी हैं उनके

जीवनने गुरुके कहनेको न माननेका प्रयोजन दिखाया है। उन के पिता शान्तनुका मरण होनेके अनन्तर इन्होंने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार सौतेले भाई चित्रांगदको राजा बनाया और चित्रांगदके युद्धमें मारे जाने पर उसके छोटे भाई विचित्रवीर्यको हस्तिनापुरके सिंहासन पर बैठाया। विचित्रवीर्यके लिये योग्य स्त्रीकी खोज करते २ उन्होंने सुना कि-काशीके राजाकी तीन कन्या स्वयंवरा होंगी, उनको सब प्रकारसे भ्राताके योग्य समझ कर काशीमें गए और उनको स्वयम्वरकी सभामेंसे बलात्कार करके ले आए। हस्तिनापुरमें आजाने पर अम्बिका और अम्बालिकाने अपनी इच्छासे विचित्रवीर्यके साथ विवाह कर लिया। परन्तु उनमें बडी बहिन अंबाने कहा कि-मैंने पहिले ही अपने मनमें शाल्वको वर लिया है, इसलिए भीष्मजीने उसको यथोचित सन्मानके साथ राजा शाल्वके पास भेज दिया, परंतु शाल्वने उसको ग्रहण नहीं किया उसने कहा कि-जब भीष्म तुझको बलात्कार करके मुझसे छीन लेगये हैं, तब फिर तुझ को उनकी दी हुई दानस्वरूप मैं नहीं ले सकता। अम्बा भीष्मजीके पास आकर फिर कहने लगी कि-शाल्व मुझको स्वीकार नहीं करता,तब आप ही मेरे साथ विवाह कर लीजिये भीष्मजीने अपनी पहिली प्रतिज्ञाकी रक्षा करनेके लिए उसके साथ विवाह नहीं किया, क्योंकि—वह जीवन भरके कौमार ब्रह्मचर्यका व्रत धार चुके थे, उस समय अम्बा क्रोधमें भर कर भीष्मजीके गुरु परशुरामजीकी शरणमें गई। परशुरामजी ने उसका पक्ष लेकर भीष्मजीसे उसको ग्रहण करनेका अनुरोध किया, परन्तु भीष्मजीने अपने कौमार व्रतका नाश करने वाली इस अनुचित आज्ञाका पालन करना मनमें उचित नहीं समझा इस कारण गुरु और शिष्यमें घोर युद्ध होने लगा और बहुत दिनों तक होता रहा। दोनों घायल हुए बहुत बार वह

क्लान्ति और रुधिर बहानेके कारण मूर्छित हुए परन्तु मूर्छा दूर होने पर फिर युद्ध किया, इस प्रकार जब अट्ठाईस दिन बीत गए तब वृद्ध परशुरामजीने कहा कि—अब मुझमें शक्ति नहीं है, भीष्मजीकी ही जय हुई। जो कुछ भी हो भीष्मजी अम्बाके दुःखका कारण अवश्य हुए, यद्यपि यह अपराध उन्होंने जान कर नहीं किया था, तथापि कर्मफलसे अम्बा ही उनकी मृत्यु का हेतु हुई।

वृद्धोंका सन्मान करना, पुराने समयके हिंदुओंके चरित्रका एक प्रधान गुण था अधिक अनुभवसे उत्पन्न हुआ ज्ञान, वृद्धोंका इकट्ठा कियाहुआ धन, वह अपनी इच्छासे उस ज्ञानके योग्य पात्र नम्र और धैर्यवान् शिक्षा चाहनेवालेको देते थे। परन्तु आजकल के नवयुवा इस गुणको पैरोंसे कुचल रहे हैं। अब भी जिसमें इस की फिर चर्चा हो, इसके लिए सब प्रकारसे उद्योग करना चाहिये

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये॥ १८॥
ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन चात्मना।
परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिञ्च हतौजसम्॥ १९॥

सतां प्रसंगान्मम वीर्यसम्विदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥२५॥
भक्त्या पुमान् जातविराग ऐन्द्रियात्।
दृष्टश्रुतान्मद्रचनानुचिन्तया॥
चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो।
यतिष्यते ऋजुभिर्योगमार्गैः॥ २६॥
असेवयायं प्रकृतेर्गुणानां।
ज्ञानेन वैराग्यविजृम्भितेन।

योगेन मदर्पितया च भक्त्या ।
मां प्रत्यगात्मानमिहावरुन्धे ॥ २७ ॥

श्रीमद्भागवत ३ । २५

अखिलात्मा भगवान्में भक्ति करनेकी समान योगियोंको ब्रह्मज्ञान प्राप्त होनेका दूसरा कल्याणकारक मार्ग नहीं है॥१८॥ जिनका मन ज्ञान वैराग्य और भक्तिभावसे युक्त होता है वह निर्मल सनातन ब्रह्मका दर्शन करता हुआ प्रकृतिको तेजोहीन देखता है ॥१९॥ जहाँ साधुसमागम होता है तहाँ मेरे चरित्रकी हृदय और कानोंको प्रिय लगनेवाली कथा होती है, जिनको सुनने से शीघ्र ही मोक्षमार्गमें श्रद्धा और प्रीति तथा भगवान्की भक्ति की वृद्धि होती है ॥२५॥मेरी सृष्टि आदि लीलाओंका चिन्तवन करनेसे विषयोंसे वैराग्य और भक्तिका उदय होता है, उद्योगी होकर मन योगमें तत्पर होता है और मनुष्य चित्तको वशमें करनेके लिये यत्न करने लगता है ॥२६॥ तब प्रकृतिके असेवन का वैराग्य उसके मनमें ज्ञानका उदय कर देता है तथा योग और मुझको अर्पण करी हुई भक्तिसे मनका अंधकार दूर होकर मुक्त परमात्माका दर्शन मिलता है ॥ २७ ॥

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः ।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते विश्वचक्रम् ॥१॥
तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तन्देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्तात् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ७
न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥ ८ ॥
न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिंगम् ।

स कारणं कारणकारणाधिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥ ९ ॥
एको वशी निष्क्रियाणां बहूनां
एकं बीजं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२ ॥
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम्
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १३ ॥

श्वेताश्वतर ६ अ०

मोहमें पड़कर कोई विद्वान् कहते हैं कि-जगत्का कारण स्वभाव है, कोई कहते हैं विश्वका कारण काल है परन्तु संसार में भगवान्की ऐसी महिमा है कि-जिसके द्वारा यह संसारचक्र घूमरहा है, उसका कोई वर्णन नहीं करसकता ॥१॥ वह ईश्वरों का ईश्वर है, देवताओंका परम दैवत है, वह लोकपतियोंका भी पति परम पुरुष है, हम तो उसको देवपूज्य और विधाताका भी विधाता जानते हैं ॥७॥ उसके शरीर इन्द्रियादि कुछ नहीं हैं उसकी समान श्रेष्ठ भी कोई नहीं है, उसकी नाना प्रकारकी परा शक्ति शास्त्रोंमें सुनने आती है, उसकी बलक्रिया और ज्ञानक्रिया स्वाभाविक है ॥ ८ ॥ संसारमें उसका कोई पति नहीं है, ऐसा कोई चिन्ह नहीं है कि-जिससे उसको पहिचाना जाय, वह इन्द्रियों का पति सबका कारण है, संसारमें उसका कारण कोई नहीं है९ जो निष्क्रियोंका नियन्ता है, एक बीजको अनेकों आकार का करदेता है, उसका आत्मामें दर्शन करनेसे जैसा सुख होता है, उसको ज्ञानी ही जानते हैं और लोग नहीं जानसकते ॥१२॥ वह नित्योंमें सनातन नित्य है, चेतनोंका चेतनस्वरूप है एक ही अनेकों की कामनाओंको पूर्ण करता है वही सबका

कारण हैं और सांख्ययोगसे जानजाता है, उसको जानकर भक्तका मन तृप्त होजाता है और ध्यान करनेसे सकल बन्धन टूटजाते हैं।

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ॥ ३ ॥
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥ ४ ॥
तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ।
ब्रह्म तेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥ १४ ॥
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥
तस्याहुः सम्प्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम्
समीक्ष्य कारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम्॥ २६ ॥
तं राजा प्रणयन् सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्द्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥ २७ ॥
दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम्॥ २८ ॥

(मनु ७ अ०)

राजाके न होनेसे चारों ओर भयसे घबड़ायेहुए इस लोकमें रक्षाके लिये ईश्वरने राजाको बनाया ॥३॥ इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुवेरका अंश लेकर विधाताने राजा की रचा ॥ ४ ॥ राजाके हितके लिये ईश्वरने पहिले सकल प्राणियोंके रक्षक, धर्मस्वरूप, आत्मज, ब्रह्म जोमय दण्डको रचा ॥१४॥ दण्ड सब प्रजाओंका शासन करता है, दण्ड सबकी रक्षा करता है, सबके सोनेपर दंड जागता है, इसीसे पंडितोंने दंड को धर्मका मूल कहा है ॥१८॥ जो दण्डका प्रयोग करना जानता हो, सत्यवादी, विचारशील, परमबुद्धिमान्, वेदवेत्ता और धर्म, काम तथा अर्थके भेदको जानता हो, शास्त्र उसको ही योग्य राजा

कहता है ॥२६॥ जो राजा विचारके साथ दण्ड देता है, उसका राज्य धर्मार्थ कामसे भरापुरा रहता है, जो धूर्त्तराजा भोगवासना में लिप्त रहता है और अपने मनको अपने शत्रु क्रोधादिके वशमें होने देता है, वह जो दण्ड देता है वह बड़े बलके साथ उलटा उसके ऊपर ही आकर पड़ता है॥२७॥ महातेजस्वी दण्ड, शास्त्र के ज्ञानसे हीन राजाके धारण करनेयोग्य नहीं है, क्योंकि-वह अनुचित प्रयुक्त होनेपर राजाका वंशसहित ध्वंस करदेता है॥२८॥

तेन धर्मोत्तरश्चायं कृतो लोको महात्मना ।
रञ्जिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते ॥ १४५ ॥

(महाभारत शांतिपर्व ७० अ०)

महात्मा नृपति प्रजाओंको प्रसन्न रखकर अपने शासनसे भूमिको धर्मसे पूर्ण करता है, इसी कारण (रञ्जनात्-राजा) राजा कहलाता है ऐसे राजाके दर्शनसे परम पुण्य होता है१४५

राजा प्रजानां हृदयं गरीयो
गतिः प्रतिष्ठा सुखमुत्तमञ्च ।
समाश्रिता लोकमिमं परञ्च
जयन्ति सम्यक् पुरुषा नरेन्द्र ॥ ५९ ॥
नराधिपश्चाप्यनुशिष्य मेदिनीं
दमेन सत्येन च सौहृदेन ।
महद्भिरिष्ट्वा क्रतुभिर्महायशाः
त्रिविष्टपे स्थानमुपैति शाश्वतम् ॥ ६० ॥

(महाभारत शांतिपर्व, ६८अ०)

राजा ही प्रजाओंके हृदयका गुरु, आश्रय, प्रतिष्ठा और परम सुख है, राजाकी सहायतासे ही वह समर करके इस लोक और परलोकको सहजमें जीतते हैं ॥ ५९ ॥ राजा सावधान चित्तसे भूमिका शासन करके, दम, सत्य और सौहार्दसे युक्त होकर तथा अश्वमेधादिके द्वारा यजन करके बड़ा भारी यश पाताहुआ स्वर्गमें अमरपद पाता है ॥ ६० ॥

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रन्तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते ॥ १४५ ॥
(मनु २ अ०)

दश उपाध्यायोंकी समान आचार्यका सन्मान, सो आचार्यों की समान पिताका सन्मान और पितासे सहस्रगुणा माताका सन्मान करना चाहिये और मातासे अधिक तो कोई है ही नहीं।

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः ।
नार्त्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः ॥ २२६ ॥
तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते ।
त एव हि त्रयो लोकास्त एव त्रय आश्रमाः ।
त एव हि त्रयो वेदास्त एवोक्तास्त्रयोऽग्नयः ॥ २३० ॥
सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफला क्रियाः ॥ २३४ ॥
(मनु अ० २)

आचार्य, पिता, माता और बड़े भाईका अत्यन्त पीड़ित होने पर भी अपमान न करे और ब्राह्मणको विशेषकर इस बातका ध्यान रखना चाहिये ॥ २२६ ॥ इन तीनोंकी शुश्रूषा ही परम तप कहाती है ॥ २२९ ॥ यह तीनों ही त्रिलोकी हैं, यह तीनों ही तीन आश्रम हैं यह तीनों ही वेदत्रयी हैं और यह तीनों ही तीन अग्नियें हैं ॥ २३० ॥ जिसने इन तीनोंका आदर किया उसने सबका आदर करलिया और जिसने इन तीनोंका अनादर किया उसके धर्म कर्म सब वृथा हैं। २३४ ।

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान् प्रतिपद्यते । १२० ।
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् । १२१ ।

अवस्था विद्या आदिमें वृद्ध पुरुषके आनेपर युवाके प्राण

ऊपरको आकर बाहर आना चाहते हैं, परन्तु प्रत्युत्थान और अभिवादन आदिके द्वारा वह फिर प्राणोंको पाता है १२० सदा वृद्धोंकी सेवा और उनको अभिवादन करने वाले युवाकी आयु, विद्या यश और बल यह चारों बढ़ते हैं ॥ १२१ ॥

नवम अध्याय

समानके साथ व्यवहार

अब समान अवस्थावालोंके साथ व्यवहार करनेके विषयकी आलोचना करते हैं। हम अपनी समान अवस्था वाले पुरुषोंसे निरन्तर हिलते मिलते हैं और घिरे रहते हैं। जिन गुणोंको बढाने से और जिन दोषोंको त्यागनेसे हम अपने परिवारवालोंके साथ या बाहरके मित्रगणोंके साथ सुख स्वच्छन्दतासे समय बितासकें उसका विचार भी अवश्य करना चाहिये, क्योंकि-इसकी सबसे पहिले आवश्यकता है। जिसमें निरन्तर पारिवारिक धर्मका पालन होता है वह पवित्र और सुखसे भराहुआ घर ही राज्य के अनुकूल भित्ति है और उसके द्वारा ही जातीय उन्नति हो सकती है। पिता माताके साथ पुत्रका कैसा व्यवहार होना चाहिए इसकी आलोचना पहिले ही करचुके हैं। अब पति पत्नी और भाई बहिनोंमें परस्पर कैसा वर्त्ताव होना चाहिए उसकी ही आलोचना करते हैं।

हिन्दुओंके धर्मग्रन्थोंमें पति पत्नीके दाम्पत्य प्रेमका वर्णन करनेवाली असंख्यों कथा हैं। मनुजीने कहा है-'यो भर्त्ता सा स्मृताङ्गना'। अर्थात् जो पति है वही पत्नी है, ये दोनों मिलकर पूरा एक हैं, प्रेम ही उन दोनोंके एकत्वका बनानेवाला है। पतिका प्रेम रक्षा करनेवाला, आश्रयदाता और कोमल है पत्नीका प्रेम त्यागपूर्ण, मधुर और एकमें अनुरक्त है। मनुजीने कहा है,

कि–'अन्योऽन्यस्याव्यभीचारो भवेदामरणान्तिकः' । अर्थात् उन दोनोंका परस्परका विश्वासबंधन मरणकाल तक रहना चाहिये । श्रीरामचन्द्रजी और सीताजी पति पत्नीका पूर्ण आदर्श थे, उन दोनोंने जीवनका सुख दुःख मिलकर भोगा था । वह परस्परका अभिमत कार्य करते थे, दोनोंको दोनोंके कष्टका अनुभव होता था पहिली अवस्थामें हमने उनको पूर्ण आनन्दमय देखा है, जिस समय श्रीरामचन्द्रजीके राज्याभिषेककी तयारी होरही थी, उस समय वह दोनों संयमके साथ पूजा आदिमें लगेहुए थे । जिस समय वनवासकी आज्ञा उनके कानोंमें पडी, उस समय सीताजीने पहिले उस वेदनाको अविचल भावसे सहा; क्योंकि–उनको विश्वास था कि–रामचन्द्रजीके वनको जाने पर मैं भी वनको जाऊँगी । रामचद्रजीने घर रहनेको कहा तब सीताजीने कहा था कि–मेरा हृदय पूर्णरूपसे तुम्हारा ही है, मैं और कुछ नहीं जानती, चिरकालसे तुम्हारा ही आश्रय किया है, यदि छोडकर चलेजाओगे तो प्राण त्याग दूँगी, वनके काँटे मेरे शरीरको कोमल वस्त्रकी समान मालूम होंगे और मार्गकी धूलिको चंदनकी रजसमान समझूँगी, स्वामीके समीप रहनेमें तिनुकोंका बिछोना भी उत्तम शय्या और फलमूल ही परम प्रीतिदायक परमस्वादु भोजन मालूम होगा । सीताजी रामचन्द्रजीके साथमें रहनेको ही स्वर्गधाम समझती थीं और उनसे अलग होकर रहनेको नरकवास समझती थीं । जिस समय रामचन्द्रजीने उनसे घर रहनेके लिये अनुरोध किया उससमय उनके हृदयमें दारुण कष्ट हुआ और जब रामचन्द्रजीने उनको परम दुःखित देखकर संग चलनेकी आज्ञा दी तब उनके आनन्दकी अवधि नहीं रही, उन्होंने आनन्दके मारे अपने गहने और वस्त्र उतार कर दास दासियोंको दे डाले । साधारण स्त्रियें जिनका बडा मोह करती हैं उन सब गहने वस्त्र आदिको अनायासमें ही आनन्दके साथ त्यागकर

वह वनवासी पतिके संग होगई। वह बालिकाओंकी समान वनमें क्रीडा करती हुई चली जाती थीं, सम्पदाके अभावमें उन के मन पर जरासा भी कष्टका चिन्ह प्रतीत नहीं होता था। वह रात दिन श्रीरामचन्द्रजीके संग रहती थीं। यद्यपि उनकी अवस्थाकी चपलता सर्वथा दूर नहीं हुई थी तथा वह प्रवीणता की भरी हुई थीं, दण्डकारण्यकी सीमामें घूमते समय उन्होंने स्वामीको गम्भीर सारगर्भित वाक्यमें सम्मति दी थी, जिस समय राक्षसराज रावण उनको हरकर लेगया था, उस समय श्रीराम-चन्द्रजीने उनको खोजते हुए कहा था कि–सीते! सीते! तुम कहाँ हो! क्या छुप रही हो! क्या मेरे साथ परिहास कर रही हो? शीघ्र आओ, तुम्हारी यह क्रीडा मुझको मृत्युकी समान प्रतीत होती है। जब रामचन्द्रजी इसप्रकार रुदन करके सीताजीको खोजरहे थे उससमय रावण सीताजीको पातिव्रत्यसे डिगानेके लिये कभी लोभ और कभी भय दिखाता था, तथा कभी उनके साथ निर्दयीपनेका व्यवहार करता था; परन्तु सीताजीकी पति भक्ति अटूट थी, उन्होंने कहा कि–मैं एकमें ही अनुराग करने वाली हूँ, पापमार्गमें पग कभी नहीं रख सकती। धन रत्नों का मुझको लोभ नहीं है जैसे सूर्यकी किरणें ही उसका अपना सर्वस्व हैं, मैं भी तैसेही रामचंद्रजीको अपना सर्वस्व समझतीहूँ

अब सावित्रीकी कथा भी सुनिये। उसने पातिव्रत्यके बलसे मृत्युपति यमराजको परास्त करके मरेहुए पतिको फिर जीवित किया था। राजा अश्वपति मद्रदेशका स्वामी था, बहुत दिनों तक देवताकी आराधना करने पर उसके एक कन्या उत्पन्न हुई, उस कन्याका नाम सावित्री रक्खा। उसके देहका वर्ण सुवर्णकी समान था, लावण्य खिली हुई मल्लिकाकी समान था, प्रजाके लोग उसको देवी समझकर भक्ति करते थे और सत्कार्यके लिये उस

के शरणागत हुआ करते थे। जब वह विवाहके योग्य हुई तो उसके पिताने उस समयकी रीतिके अनुसार उसको अपने लिये पति खोजनेकी आज्ञा दी। सावित्री पिताके आज्ञासे अपनी सखियोंके साथ पतिकी खोज करनेके लिये चलदी, वह जब लौटकर आई तो देवर्षि नारदजी उसके पिताके पास आये उनके सामने सावित्रीने अपने मनसे वरे हुए पतिकी कथा वर्णनकी। उसने कहा कि—शाल्व देशके राजा द्युमत्सेन बूढ़े और अंधे होगये हैं, इस कारण शत्रुओंने उनका राज्य छीन लिया, इस समय वह स्त्री और पुत्रके साथ मुनियोंके आश्रममें रहते हैं, मैंने उनके पुत्र सत्यवान्‌को अपने मनमें पतिरूपसे वर लिया है। यह सुनते ही नारदजी कहने लगे, कि सावित्री! तुमने अच्छा नहीं किया। राजाने पूछा कि–क्या सत्यवान् सावित्रीके योग्य नहीं है? उसका शरीर क्या रोगी है? या उसके मनमें बल नहीं है? या उसमें क्षमा-गुण नहीं है? अथवा उसमें क्षत्रियोंकेसा साहस नहीं? नारद जीने कहा–उसमें शूरता वीरता, क्षमा, प्रवीणता आदि किसी गुणकी कमी नहीं है। सत्यवान् सूर्यकी समान दमकते हुए शरी-रवाला, रन्तिदेवकी समान दयालु राजा शिविकी समान न्याय परायण, ययातिकी समान महान् और पूर्ण चन्द्रमाकी समान सुन्दर है। परन्तु यह सब गुण एक वर्षके बाद भूतलसे विदा होजाँयगे सत्यवान्‌के जीवनका समय बहुत ही थोड़ा है। सावित्री देवर्षि नारदजीकी बात सुनकर मनमें दुःखी हुई परन्तु कहने लगी कि–"सकृदाह ददानीति,, अर्थात् 'देदिया' यह बात एक बार कही जासकती है मैं एक बार कह चुकी हूँ कि–मैंने सत्य वान्‌को आत्मदान दिया, इसलिये अब दूसरे पतिको स्वीकार नहीं करसकती। नारदजीने कहा कि–जब तुम्हारी कन्या इतने

पर भी अपने सङ्कल्पसे नहीं डिगती है तो मैं आशीर्वाद देता हूँ कि यह इस विवाह हीसे सुख पावेगी ।

उसी समय द्युमत्सेनके आश्रमको दूत भेजा गया, उन्होंने राजा अश्वपतिको प्रत्युत्तर कहला भेजा कि-मैं आपके यहाँ सम्बन्ध करना चिरकालसे चाहता था, केवल अपने प्रारब्ध विपरीत होजानेके कारण इससमय उस इच्छाको प्रकाशित नहीं करसकता था । इससमय सावित्री अपनी इच्छासे आती है इस से मैं अब समझ गया कि-निःसन्देह अब लक्ष्मी मेरे ऊपर प्रसन्न है। विवाह होगया, सावित्री राजमहलको छोड़कर वनकी कुटीमें रहकर बूढ़े सास और ससुरकी तन,मन;और वाणीसे सेवा करनेलगी घरके सबकामोंको आनन्दके साथ अपने हाथोंसेकरना प्रारम्भ कर दिया और अपने मधुरस्वभावके गुणसे पतिके मन को खेंचलिया,परन्तु उसके मनमें रातदिन वह खोटे दिनकी बात जागती रहती थी । वह बराबर दिन गिनने लगी होते२सत्यवान् की मृत्युका दिन निकट आपहुँचा । और चारदिन बाकी रहगये इससमय तीन दिनका उपवास करके सावित्री देवताकी आराधना करने लगी । अन्न जलके छोड़े हुये उसको तीन रातदिन बीत गये । चौथे दिन प्रातःकाल उठी और नित्य नियमसे निबट कर गुरुजनोंके चरणोंको प्रणाम किया ।उस वनके निवासी सब ही महर्षियोंने उसको अशीर्वाद दिया कि-तू सदा सौभाग्यवती रहेगी,कभी विधवा नहीं होगी । जब सत्यवानका जंगलसे काठ लानेका समय हुआ तब सावित्री भी उसके पीछे २ गई सत्यवान्ने अचम्भेमें होकर बूझा कि-तू कहाँ जायगी ! सावित्रीने उत्तर दिया कि आज तम्हारे साथ ही जानेको मेरा जी चाहताहै तब वह दोनों जने, पर्वत, नदी, और उनकी शोभा देखते २ वन में विहार करनेवाले पशुपक्षियोंको देखते हुए एक वनमें पहुँचे

सत्यवान्ने अपने नित्यके कामका आरम्भ किया, बनके फल इकट्ठे करके काठ इकट्ठा करने लगो, उसी समय एकसाथ उसका शरीर सुन्नसा होगया, शिरमें बड़ाभारी दर्द होकर बराबर बढ़ने लगा, तब वह शिरमें दर्दकी बात कहते२ सोगया सावित्री उस का शिर अपनी गोदीमें रखकर बैठगई और विदीर्ण हुए अंतःकरणसे उस कालमुहूर्त्तके आनेकी प्रतीक्षा करने लगी। अचानक देखा कि-एक लाल वस्त्रधारी भयानकमूर्ति पुरुष तहाँ आकर खड़ा है। उसको सत्यवान्की ओर दृष्टि डालते देखकर सावित्री ने धीरे२ पतिका मस्तक भूतल पर रखदिया और प्रणाम करके खड़ी होगई। तब वह मूर्ति कहनेलगी कि-सत्यवान्का जीवनकाल समाप्त होगया है मैं मृत्युपति यमराज हूँ, सत्यवान् बड़ा धार्मिक था, इसकारण दूतोंको न भेजकर मैं अपने आप आया हूँ इतना कहकर सत्यवान्के स्थूल शरीरमेंसे सूक्ष्म शरीरको लेकर दक्षिण दिशाकी ओरको चलने लगे सावित्री भी उनके पीछे२ चलने लगी। यमराजने कहा सावित्री! धीरज धरो और लौटकर सत्यवान्की प्रेतक्रिया करो, तुम्हारा कर्त्तव्य पूरा होगया, मनुष्य जितनी दूरतक जासकता है, तू उतनी दूरतक स्वामीके पीछे २ आई, अब लौटजा। यह सुनकर सावित्रीने कहा कि-मेरे स्वामी जिस समय जहाँ रहे, उस समय मुझको भी तहाँ ही रहना चाहिये यह ही पति और पत्नीका नित्य संबन्ध है यदि मैंने शरीर, मन और वाणीसे अपने पतिकी सेवा भक्ति करी है, तो मेरा वह संबन्ध टूटना नहीं चाहिये। यदि मैंने सब प्रकारसे गुरुजनोंकी पूजाकी है, यदि व्रत उपासना आदिका कुछ फल है तो आपकी कृपासे मेरी गति कहीं नहीं रुकसकती मैं निःसन्देह स्वामीके साथ जासकती हूँ, इसप्रकार वह बालक की समान अपने धर्मकी शिक्षाकी आवृत्ति करनेलगी। दृढ़ विश्वासके साथ गृहस्थधर्मका पालन करनेसे ज्ञान और धर्म

का फल मिलता है, हे मृत्युपति मेरा मार्ग रोककर उनसब फलों के पानेसे मुझको वञ्चित न करना। यमराजने कहा कि-तू ज्ञानवती और सत् असत्का विचार करने वाली है, तेरी बातें बड़ी ही मीठी हैं। उनको सुनकर मैं प्रसन्न होगया, तू अपनेपति के जीवनके सिवाय और वर मांगले। सावित्रीने कहा मेरेसुसुर अंधे हैं, आपकी कृपासे उनके नेत्र होजायँ यमने कहा हे सर्व-सुलक्षणे! मैंने तेरी अभिलाषा पूरीकी, अब तू लौटजा। सावित्री ने कहा जहाँ स्वामी जायँगे मुझको भी तहाँ ही जाना चाहिये, सत्संगसे सदा श्रेष्ठ-फल मिलता है, हे मृत्युपते! आपकी समान सत्पुरुष और कौन होगा? मैं यदि आपके साथ२ अपने पतिकी अनुगामिनी होती हूँ तो इसका परिणाम अशुभ नहीं होसकता। यमराजने कहा अपने पतिके जीवनके सिवाय तुझको और जो कुछ चाहिये सो माँगले। सावित्रीने कहा, मेरे ससुरका राज्य शत्रु-ओंने छीन लिया है वह आपकी कृपासे मिल जाय। यमने कहा अच्छा वह राज्य पाजायंगे, जा अब घरको लौटजा, अब हमारे पीछे आना छोड़दे। परन्तु सावित्री मीठे वाक्योंसे उनकी प्रशंसा करती हुई फिर भी उनके पीछे ही चलने लगी और उनसे अपने पिता के तथा अपने सौ पुत्र होनेका वरदान माँगलिया। जब चौथा वरदान मिलगया तब धर्ममार्गमें स्थित रहकर सौ पुत्र उत्पन्न करनेके विषयमें वह जो कुछ जानती थी. उसको स्पष्ट निवेदन करके यमराजसे स्वामीका जीवन भी पालिया, क्योंकि-स्वामी को फिर लेजाये बिना धर्ममार्गमें स्थित रहकर उसको सन्तानकी प्राप्ति नहीं होसकती थी। इसप्रकार पतिव्रता नारीने यमराज से अपने पतिको छुड़ाया भगवान्ने दिखा दिया कि—पतिव्रता के तेजके सामने यमराज भी हतबुद्धि होजाते हैं।

हिंदुओंके बालक राजा नलकी पत्नी दमयन्तीकी कथाको भी कभी न भूलें। नल वीरसेनाका पुत्र निषधदेशका राजा था

वह नेत्रोंसे बिनादेखे ही विदर्भराज भीमसेनकी कन्या दमयन्ती को प्रेम करनेलगा था जैसे ही दमयन्तीको भी पहिलेसे नलका अनुराग था, स्वयम्बरके समय इन्द्र अग्नि वरुण यम और सकल राजाओंके सामने दमयन्तीने राजानलको ही पति मानकर वरा। विवाहके बाद ग्यारह वर्षतक उन्होंने राजसुखभोगा। उसी समय उनके एक पुत्र और एक कन्या उत्पन्न हुई। बारहवेंवर्ष उस के भाई पुष्करने उनको चौसर खेलनेके लिये बुलाया इस खेलमें राजा नल अपनी धन सम्पत्ति और राज्यसिंहासन तक हारगये और एक धोती पहरे हुए ही राज्यको त्यागना पड़ा, दमयन्ती अपनी दोनों सन्तानोंको पिताके यहाँ भेजकर एक साड़ी पहिरे हुए ही राजा नलके पीछे २ चलदी वह भूखसे घबड़ाए हुए राज्यसे बाहर घूमने लगे। एक दिन नल, वस्त्रसे पक्षियोंको पकडनेका उद्योग कररहे थे, सो पक्षी उस वस्त्रको भी लेकर उडगये, तब दोनों एक ही वस्त्रको पहिरे हुए घूमनेलगे। नलने अनेकों बार दमयन्तीसे पिताके घर जानेका अनुरोध किया, परन्तु दमयन्ती छोड़कर जानेको राजा नहीं हुई। इसप्रकार घूमते घूमते एकदिन दमयन्ती थककर वृक्षके नीचे सोगई। तब राजा नल अपने मनमें तर्क वितर्क करने लगे कि—यदि मैं दमयन्तीको छोड़कर चलाजाऊँगा तो अवश्य ही यह अपने पिताके यहाँ चली जायगी इसमें इसको फिर कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा ऐसा विचार अपनी तलवारसे उस धोतीको बीचमेंसे काटकर आधे से दमयन्तीके शरीरको ढकदिया और दूसरे आधेसे अपने शरीरको ढककर दुःखसे उन्मत्त हुएसे चल दिये। दमयन्ती ने निद्रा दूर होनेपर देखा कि—स्वामी नहीं हैं तब उसके दुःखका ठिकाना न रहा वह अपने कष्टकी अपेक्षा स्वामीको जाने कितना कष्ट होता होगा यह विचारकर बड़ी व्याकुल हो स्वामीको ढूँढने लगी परन्तु उनको कहीं नहीं पाया। घूमते २

एक भयानक अजगरने दमयन्तीके ऊपर आक्रमण किया वह इस विपत्तिसे तथा और भी बहुतसी विपत्तियोंसे किसी न किसी प्रकार रक्षा पाकर अंतको चेदिराजकुमारीके आश्रयमें पहुँच गई। इसका विस्तारके साथ वर्णन महाभारत वनपर्वके नलोपाख्यान में है। इधर नल एक सर्पकी अग्निसे रक्षा करके उसकी सहायतासे अपनी सूरतको बदलकर अयोध्याके राजा ऋतुपर्णके यहाँ सारथीका काम करनेलगे इसप्रकार पति पत्नी दोनों अलग अलग होगये इधर राजा भीमसेनने अपनी कन्या और जमाईको खोजनेके लिये चारों ओर ब्राह्मण दूत भेजे उसमें सुदेव नामक ब्राह्मणने चेदिराजके अनुग्रहसे दमयन्तीको साक्षात् पाया तब हाल खुला कि–चेदिराजकुमारीकी माता दमयन्तीकी माताकी बहिन है। तदनन्तर दमयन्ती पिताके घर आई। नलको ढूँढनेके लिये चारों ओर दूत भेजे गये दमयन्तीने दूतोंको ऐसी एक बात प्रसिद्ध करना सिखादिया कि-जिसको नल ही समझ सके उसमें नलसे फिर लौट आकर दमयन्तीको दर्शन देनेका अनुरोध किया गया था। दूत अनेकों देशोंमें ढूँढते फिरे अन्तको एक दूतने अयोध्या पहुँचकर वह दमयन्तीकी बताई हुई बात प्रसिद्ध करदी उस बातको सुनते ही अयोध्यापति ऋतुपर्णके सारथीने बडा दुःख प्रकाशित किया उस पर्णाद नामक दूतने आकर ज्यों ही दमयन्तीको यह समाचार सुनाया तत्काल उस सारथिको पहिचान लिया कि–यही नल है, बस उसी समय उनको विदर्भ देशमें लानेके लिये दमयन्ती उपाय सोचने लगी दमयन्तीने फिर उस ब्राह्मणको भेजकर अयोध्यामें यह बात प्रसिद्ध करादी कि कलको ही दमयन्तीका स्वयंवर होगा। दमयन्ती जानती थी कि–अयोध्यासे चलकर फिर एक ही दिनमें विदर्भ पहुँचना एक नलके सिवाय दूसरेकी शक्तिसे बाहर है, दमयन्ती

ने जो कुछ मनमें विचारा था वह ही हुआ। ऋतुपर्णकी आज्ञासे सारथि योग्य घोड़े जोत साँझ ही को विदर्भमें आ पहुँचा परन्तु स्वयम्वर कहाँ! यह सब प्रसिद्धि तो झूठी ही कराई गई थी, केवल दमयन्तीकी चतुराईसे राजा नल शीघ्र ही विदर्भमें आपहुँचे। नलने दमयन्तीकी चतुराईसे अपनेको प्रकाशित कर दिया और अपने पुत्र कन्याको देखकर रो उठे अन्त को पति पत्नीका फिर मिलन हुआ। तदनन्तर वह दोनों फिर राज्य पाकर परमसुखके साथ समयको बिताने लगे।

जो स्त्री सच्चे पातिव्रत्यका अवलम्बन करके पतिकी सेवामें समयको बिताती है, उसकी मानसिक उन्नति और ज्ञानकी वृद्धि होती है, वह विना श्रम किये ही तपस्याका फल पाजाती है क्योंकि-हमारे पुराणोंमें ऐसी एक स्त्रीके ऊपर कौशिकके कोपका वर्णन है।

पहिले समयमें एक कौशिक नामक ब्राह्मणने बडी भारी तपस्या की थी, एक दिन वह एक वृक्षके नीचे बैठे हुए ध्यान कररहे थे, इतने हीमें एक बगलेने उनके शिर पर बीट करदी। तपस्या करनेसे कौशिकका इतना तेज इकट्ठा होगया था कि-उन्होंने क्रोधमें भरकर ज्यों ही बगलेकी ओरको देखा कि-उसी समय वह बगला भस्म होगया। कौशिक बगलेकी मृत्युसे दुःखित और अपने तेजका प्रभाव देखकर आनन्दित हुए। तदनन्तर वह एक दिन समीपके नगरमें भिक्षाके लिये गये और एक गृहस्थके यहाँ जाकर उन्होंने उस घरकी मालिकनीसे भिक्षा माँगी वह उनके लिये भिक्षा लेनेको जाती थी, इतने ही में उनके स्वामी थके और धूलिसे अटे हुए घरमें आये। इस लिये वह कौशिकसे जरा ठहरनेको कहकर अपने स्वामीकी सेवामें लग गई। अधिक विलम्ब होता देखकर कौशिकको क्रोध आगया। अन्त को जब वह पतिव्रता भिक्षा लेकर आई तब ब्राह्मण क्रोध भरी दृष्टिसे उसकी ओरको देखने लगे और कहा कि—मैं

ब्राह्मण हूँ, मेरा तिरस्कार करके इतना विलंब क्यों किया? पतिव्रता कोमलताके साथ बोली कि-हे विप्र ! मैं पतिव्रता हूँ, स्वामी की सेवा करना ही मेरा मुख्य और प्रथम कर्त्तव्य है, आप निष्कारण क्रोधको त्याग कर क्षमा करिये। मेरी ओरको क्रोध की दृष्टिसे न देखिये, इसमें आपका ही अनिष्ट होगा मैं बगला नहीं हूँ। इतना सुनते ही कौशिक चौंक उठे और उससे इस परोक्षज्ञान (बिना देखी बातको जानलेने) का कारण बूझनेलगे पतिव्रता कहनेलगी कि-मैंने तपस्या करके शक्ति नहीं पाई है, केवल अनन्य मनसे पतिकी सेवा करना ही मेरा जप तप है। यदि तुम गृहस्थके कर्त्तव्य कर्मयोगके विषयमें कुछ ज्ञान प्राप्त करना चाहते हो तो शीघ्र ही मिथिलानगरीमें जाकर धर्मव्याध से मिलो। कौशिक उसी समय मिथिलाकी ओर चल दिये, तहाँ जाकर देखा कि-व्याध मांस खरीदने बेचनेके काममें लगा हुआ है वह कौशिकको देखते ही खड़ा होगया और प्रणाम करके कहने लगा कि-आइये महाराज ! मैं समझगया, उस पतिव्रता स्त्रीने आपको मेरे पास भेजा है। मैं आपके सब संदेहोंको दूर कर दूँगा और किस उपायसे मैंने यह शक्ति पाई है सो भी आप को दिखाऊँगा, तदनन्तर वह व्याध कौशिकको अपने मातापिता के पास लेगया, इस कथाको पहिले लिख ही चुके हैं।

भ्राताके साथ भ्राताके व्यवहारका वृत्तांत रामायणमें वर्णित है। लक्ष्मण रामचन्द्रजीके जीवनस्वरूप थे। वह दोनों एकत्र शयन और एकत्र ही क्रीड़ा करते थे, एक दूसरेको क्षणमात्रको भी बिना देखे नहीं रहसकते थे। लक्ष्मण रामचन्द्रजीके साथ बनबासमें निद्रा न लेकर उनके दुःखमें दुःखी होकर साथ २ घूमते फिरे थे जिस समय लङ्काकी रणभूमिमें लक्ष्मण मूर्छित हुए उस समय रामचन्द्रजीने व्याकुल होकर बिलाप करते हुए

कहा था कि-यदि लक्ष्मण रणमें मूर्छित होकर गिरपड़े तो अब युद्धकी या जीवन धारण करनेकी आवश्यकता ही क्या है ? भाई ! तुम मुझको छोड़कर आगे ही स्वर्गको क्यों चले गये ! तुम्हारे बिना जीवन विजयलक्ष्मी और यहाँ तक कि-मुझको जानकी भी निष्प्रयोजन प्रतीत होती है ।

भ्राताओंके साथ प्रेम और मेल होनेसे यश और सम्पत्ति मिलती है,संपूर्ण महाभारतमें इसका स्पष्ट प्रमाण देखनेमें आता है हमने कहीं ऐसा लिखा नहीं देखा कि-पांडवोंने एक दिनको भी स्वतंत्रताका अवलम्बन किया हो,युधिष्ठिर ही वंशके आधार थे सब छोटे भाई उनकी ही धनसम्पदाको बढानेके लिये उद्योग करते रहते थे । उनके लिये ही सबने युद्ध किया था और उनके लिये ही धन इकट्ठा किया था । अर्जुनकी कठोर तपस्या और अति कठोर युद्धके द्वारा दिव्य अस्त्रकी प्राप्ति भी उन्हींके लिये हुई थी उधर युधिष्ठिर भी भ्राताओंके सुख तथा स्वाधीनताके लिये ही अतिव्यस्त रहते थे ।

युधिष्ठिर स्वर्गमें जाकर भी भाइयोंके लिये व्याकुल होउठे और कहा कि-जहाँ मेरे भाई हैं, मैं भी तहाँ ही जाऊँगा उन्होंने देवलोकमें भ्राताओंको न देखकर कहा था कि-भ्राताओंके विना मुझे स्वर्ग भी सुख नहीं देता है,जहाँ भाई हैं तहाँ ही मेरा स्वर्ग है, अंतमें देवताओंने दूतके साथ उनको उनके भ्राताओंके पास भेजा । स्वार्थको त्यागकर उन्होंने दूतके साथ अन्धकारमें प्रवेश किया । क्रमसे आकाश और मार्ग भी अन्धकारसे आच्छन्न हो गया । दुर्गन्धित वस्तु भयानक आकार खाखड़ोंसे भरे तथा रुधिरसे भीगे मार्गोंको लांघनेलगे। तीखे कांटे और कटीले पत्ते उनकी गतिको रोकनेलगे । अत्यन्त तपीहुई रेती और पत्थर पैरोंको जलानेलगे । राजा युधिष्ठिरने अचरजमें होकर दूतसे बूझा कि-यहां कहां लेआया ?, देवदूतने उत्तर दिया कि मुझे

आपको यहाँ लानेके लियेही आज्ञा मिली है, यदि आपकी इच्छा न हो तो आप लौटकर चलसकते हैं उन्होंने मनमें विचारा कि मेरे भ्राता ऐसे स्थानमें रहनेके योग्य नहीं हैं और तहांसे लौटना चाहते थे कि इतने ही में अनेकों दुःखियोंका कोलाहल उनके कानोंमें प्रविष्ट होनेलगा उसीसमय उन्होंने पुकारकर कहा कि—तुम कौन हो ! वह चारों ओरसे उत्तर देनेलगे कि—मैं कर्ण हूँ मैं भीम हूँ, मैं अर्जुन हूँ, मैं नकुल हूँ, मैं सहदेव हूँ, मैं द्रौपदी हूँ, हम द्रौपदीके पुत्र हैं यह सुनते ही राजा युधिष्ठिरने देवदूतसे कहा कि-तुम जिनके दूत हो, उनके पासको लौट जाओ, मैं तहाँ नहीं जाऊँगा, यहाँ ही रहूँगा, उनसे निवेदन करदेना कि-जहाँ मेरे भ्राता हैं तहांही मेरा स्वर्ग है। उसीसमय चारों दिशा दिव्य गन्धसे महक उठी चारों ओरसे दिव्यसुगंधित पवन आने लगी एक साथ प्रकाश होगया और चारों ओरसे देवताओंनें आकर युधिष्ठिरको घेरलिया क्योंकि-नरककी अपेक्षा प्रेमकी शक्ति बहुत बड़ी है,यातना प्रेमके सामने मस्तक नमाती है परिवारसे बाहर दिखानें योग्य प्रधान गुण दया है,भारतवासी सनातन आर्यपुरुष इस गुणके कितने पक्षपाती थे,यह बात नकुलोपाख्यानके पढ़नेसे मालूम होती है। एक नकुलने अपनी इच्छा से राजा युधिष्ठिरकी सभामें आकर देखा कि-बन्दनवार, यूप (खंभे) और यज्ञके पात्र सब सुवर्णके बनेहुए हैं और जो आताहै वह अपनी इच्छानुसार धन रत्नादि पाता है,किसीको निषेध नहीं किया जाता है,नकुलने कहाकि इस यज्ञमें इतना बड़ाभारी समारोह होनेपर भी यह दरिद्र ब्राह्मणके सक्तुदान(सक्तुओंकादानकरने)से बढ़कर पुण्यदायक नहीं है। इतना कहकर उसने दरिद्रब्राह्मणके सक्तुदानकी कथा सुनाई। कोई दरिद्र ब्राह्मण कण२बीनकर उञ्छवृत्तिसे इकट्ठे कियेहुए अन्नके द्वारा बड़ेकष्टसे स्त्री पुत्र बन्धु और अपने प्राणियोंकी रक्षा किया करता था।एकसमय भया-

नक अकाल पड़नेपर किसान लोग खेतमें बहुत थोड़े कण छोड़ने लगे क्योंकि–उस समय भूमि तृणहीन होगई थी अन्न भी उत्पन्न नहीं होता था इसकारण वह परिवार सहित दिन२ क्षीण होनेलगा एक दिन बड़े कष्टसे थोड़ेसे जौ बीनकर लाया था, उनको पीसकर उसकी ब्राह्मणीने चारभाग किये, उसको सब भोजन करना चाहते थे, इतनेमें ही द्वारपर एक अतिथि आपहुँचा, ब्राह्मणने उसी समय उठकर उसको बैठनेके लिये आसन और पीनेको जल देकर अपना भाग भोजनके लिये दिया अतिथिने उसको खा तो लिया परन्तु भूख शांत नहीं हुई, यह देख ब्राह्मणीने अपना भाग लाकर अतिथिको देनेके लिये पतिसे कहा ब्राह्मणने कहा-तू दुर्बल होरही है, तेरी देह खड़ा तक नहीं होसकता, देह थर२ कांप रही है, तू अपना भोजन और जल रहनेदे। तेरा प्राणांत होनेसे इस गृहस्थ का नाश होजायगा, परन्तु स्त्रीके अधिकहठ करनेपर ब्राह्मणको उसका अंश भी अतिथिके अर्पण करना पड़ा, परन्तु तब भी अतिथिकी भूँख दूर नहीं हुई। तब ब्राह्मणके पुत्रने अपना भाग लाकर दिया, परन्तु उससे भी अतिथिकी भूँख दूर नहीं हुई यह देख ब्राह्मणकी पुत्रवधूने भी अपना भाग लाकर दिया, परंतु बालिकाका अंश लेकर अतिथिको देनेमें ब्राह्मणको बड़ा कष्ट हुआ पुत्रवधूने कहा-मुझको अतिथिसेवारूप धर्मका पालन करने से न रोकिये, अतिथिसेवा परमधर्म है। अतिथिको अपने शरीरका मांस स्वरूप यह भोजन देकर प्रसन्न करिये। ब्राह्मणने पुत्रवधू का ऐसा आग्रह देखकर उसका भागभी लेकर अतिथिके सामने रखदिया। अतिथिने उसको भी लेकर खालिया। तदनन्तर जब अतिथि उठकर खड़ा हुआ तब उसके शरीरमेंसे किरणें निकल कर चारों ओरको फैलनेलगीं, सबने देखा कि-सामने धर्मराज खड़े हैं। नकुल कहने लगा कि-अतिथिके भोजनके पात्रमें जोकुछ जूठनके कण लगे रहगये थे; उनपर मैं लोटा तो मेरा आधाशरीर

सोनेका होगया। दयाके गुणसे साधारण जौंके कणोंमें भी ऐसी अद्भुत शक्ति उत्पन्न होगई थी।

एक समय एक लुब्धक बनमें जाकर बडेभारी आंधीके तोफान में फंसगया। प्रबल वृष्टि होनेके कारण सब मार्ग घाट जलसे भर कर मानो नदी नद बनगए, ऊँची भूमियोंपर रीछ शेर आदि हिंसक जतुओंने जाकर आश्रय पाया। शीत और भयसे कंपायमान होकरभी वह अपने निष्ठुर स्वभावको न भूला, दूरपर एक कबूतरीको पड़ीहुई देखकर पकड़लाया और उसको निर्दयीपनेके साथ अपने पींजरेमें बन्द करलिया, फिर यह व्याधा घूमता२एक बड़ेभारी वृक्षके पास पहुँचा, उसकी शाखाओं पर अनेकों पक्षी रहते थे इस वृक्षको जगदीश्वरने अनेको जीवोंका आश्रय कल्पना करके इस स्थानपर स्थापित किया था। व्याधने उसीके नीचे जाकर डेरा लगाया धीरे२ मेघमण्डल अंतर्धान हुआ, आकाश साफ होगया, अनेकों तारे चमकने लगे। परन्तु व्याधेका निवास स्थान बहुत दूर था, इसकारण उसने इस रात्रिके समय घरको लौटना नहीं चाहा, उसने उस वृक्षके नीचे ही रात्रिको बिताने का विचार किया। व्याधेने वृक्षके नीचे शयन करके सुना कि-कपोत दुःखित होकर कहरहा है कि हा प्रये! तू कहाँ है? अभी तक लौटकर क्यों नहीं आई! न जाने तेरे ऊपर कौनसी विपत्ति पड़ी है। हाय यदि मेरी कबूतरी नहीं आई तो मेरा भी जीवन धारण करना वृथा है, घर घर नहीं है, किंतु स्त्री घर है, हाथे में खालेता था तब वह आहार करती थी, मेरे साथ स्नान करती थी मेरे आनन्दमें आनन्द मनाती थी और मेरे दुःखमें दुःखित होती थी, यदि मैं किसी कारणसे क्रुद्ध होता था तो वह मीठी२ बातोंसे मेरी क्रोधाग्निको शांत करदेती थी। ऐसी स्त्रीके विना मुझको अपना जीवन सूनासा प्रतीत होता। ऐसी स्त्रीही धर्मादि कार्योंमें विश्वासके योग्य सहचरी होती है, ऐसी पत्नी ही पति

की बहुमूल्य सम्पत्ति है। ऐसी पत्नी ही जीवनके सकल व्यापारों में योग्य साथ देनेवाली होती है। ऐसी पत्नी ही सकल प्रकार की मानसिक व्याधियोंकी बड़ी भारी औषधि है। पत्नीकीसमान बन्धु नहीं है, पत्नीकी समान आश्रय नहीं है।

कबूतरके कातर वचनोंको सुनकर पिंजरेमें बन्द कबूतरी कहनेलगी कि–आज पिंजरेमें बन्द होकर भी स्वामीके मनके भाव को जानकर मैं अपनेको परम सुखी मानती हूँ। जिसके ऊपर स्वामी प्रसन्न नहीं वह पत्नी पत्नी ही नहीं है। परन्तु हमको इस व्याधेके विषयमें विचार करना चाहिये यह बड़ी भारी आंधी के कारण आज लौटकर घरको नहीं जासकता है, यह इससमय हमारा अतिथि (महिमान) है, क्योंकि–हमारे बसनेके वृक्ष के तले ही आकर ठहरा है। यह सुनकर कबूतर मीठे शब्दोंमें व्याधसे प्रार्थना करके कहने लगाकि–आप हमारे यहाँ अतिथि रूपमें आये हैं,कहिये इस समय आपकी किस आज्ञाका पालन करूँ? । व्याधने कहा शीतके मारे मेरा शरीर ऐंठा जाता है यदि होसके तो किसी प्रकार मेरे तापनेका प्रबन्ध करदो। कबूतरने उसी समय चोंचसे तुनके पत्ते इकट्ठे करके और समीपके ग्राममेंसे अग्निकी चिंगारी लाकर अग्नि बालदी। व्याधने उस अग्निसे ताप कर स्वस्थ होनेपर भोजन करनेकी इच्छा प्रकटकी तब कबूतरने विचारा कि-कुछ इकट्ठा कराहुआ भोजन तो है नहीं और भूखा अतिथि बिना भोजन करे रहे यह भी उचित नहीं है। ऐसा मनमें विचारकर कबूतरने तीनवार अग्निकी प्रदक्षिणा करके अग्निमें देह त्याग करते समय कहा कि हे व्याधे! तू मेरे भुनेहुए मांससे भूखको दूर कर।

इस अलौकिक दयाके कार्यको देखकर व्याधके मनमें अपने पहिले करे हुए पापोंके कारण बड़ी वेदना हुई, उसका दुष्टस्वभाव दूर होगया। वह कहनेलगा कि-पक्षी! तू मेरा गुरुहै तूने

मुझको मेरा कर्त्तव्य सिखाया है.आजसे मैं पापमार्गमें चरण नहीं रक्खूँगा, किंतु पापका प्रायश्चित्त करूँगा। अब पापके आहारसे उदरको न भरूँगा। किंतु अन्न जलको त्याग करके शरीरको सुखा डालूँगा,आजसे धर्ममार्गका ही आश्रय करूँगा।ऐसा कहकर उसने अपनी लाठी,जाल और पिंजरा तहाँही फेंकदिया कबूतरी को पींजरेसे निकालकर छोड़ दिया कबूतरीने भी सात बार अग्निकी परिक्रमा करके शरीरको त्यागदिया देह त्यागते समय उसने कहा कि-माता पिता कन्याको नित्य बहुत कुछ देते हैं परंतु यह पतिके प्रेमकी समान नहीं है। पतिही पत्नीको अपना सर्वस्व देता है,अपना तन मन धन सब देदेता है ऐसे पतिके साथ चिर-काल एकत्र रहकर अब उनके बिना अकेले जीना नरक समान है

व्याधेको इन सब बातोंके होतेही होते दिव्य दृष्टि प्राप्त होगई, उसने देखा कि-कबूतर और कबूतरी दिव्य शरीर धारण करके स्वर्गको जारहे हैं,उसी दिनसे वह व्याधा तपस्वियोंके बर्त्तावसे रहने लगा, कुछदिनोंके अनन्तर वनकी अग्निसे उसका शरीर भस्म होनेपर साथहीमें उसके पापोंका समूह भी उस कठोर तपस्याके प्रतापसे ध्वंस होगया।

क्षमा दूसरा गुण है। श्रीरामचन्द्रजीके विषयमें लिखाहै कि-सौ अपराध करनेपरभी अपराधीके ऊपर उनके मनमें मैल नहीं आता था। परन्तु एक भी उपकारकी बात उनके मनमें सोनेके अक्षरोंसे लिखजाती थी अब विदुरजीकी भी सुनो वह जैसे अपमानको भूलकर क्षमा करते थे उसकी तुलना नहीं है धृत-राष्ट्रने विदुरजीसे बूझा कि-दुर्योधनके विषयमें क्या करना चाहिये विदुरजीने कहा कि-दुर्योधनसे कहिये कि-वह पांडवों के साथ मित्रभावसे वर्त्ताव करता हुआ समयको बितावे और जिन्होंने दुर्योधनको पांडवोंके साथ अनुचित व्यवहार करनेमें स हायता दी है वह भी पांडवोंसे क्षमा मांगें,ऐसा होनेसे सबउपद्रव

शांत हो जायगा। इस बातमे बुरा मानकर धृतराष्ट्रने विदुरजीको बहुतसे कटु वचन कहे और उनको पक्षपाती तथा अकृतज्ञ कहकर अपने सामनेसे चले जानेको कहा था। इसकारण विदुरजी पांडवोंके पास वनमें चले गये और युधिष्ठिरको अपने अपमानकी कहानी सुनाई तथा अनेकों उपदेशके वाक्योंसे उनको कर्त्तव्यकी शिक्षा देने लगे। इधर विदुरजीको निकालकर धृतराष्ट्रके मनमें बडा कष्ट होनेलगा और अपना अन्याय समझकर संजयसे कहा कि—हे संजय! मैंने निष्कारण ही भाईका अपमान किया है, जरा जाकर पता लगाओ वह जीवित हैं या नहीं? जाओ शीघ्र ही उनको ढूँढकर मेरे पास ले आओ। सञ्जय चले तो गये परन्तु विदुर लौटकर आजायँगे यह उनके चित्तको निश्चय नहीं हुआ उन्होंने वनमें जाकर विदुरजीके पांडवोंके पास सम्मानके साथ समय बिताते देखा। संजयके धृतराष्ट्रकी आज्ञा सुनाते ही विदुर उठ खड़े हुए और पांडवोंसे विदा होकर शीघ्रही बडे भाईके पास आपहुँचे। जब धृतराष्ट्र क्षमा माँगने लगे तब विदुरजीने कहा कि मुझसे क्षमा माँगनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, आप बड़े भ्राता और गुरु होनेके कारण मुझसे सम्मान पानेके योग्य हैं, आपकी आज्ञा पाते ही तत्काल चला आया हूँ, आपका दर्शन न मिलनेसे मुझको बड़ा कष्ट होता था। मैं जो पांडवोंके ऊपर स्नेह करता हूँ उसका यह कारण है कि-वह बडी दुर्दशामें पड़े हैं। तुम्हारे पुत्र मुझको बड़े ही प्रिय हैं; परंतु पांडवोंके कष्टको देखकर भी मेरी छाती दहलती है, इसप्रकार छोटे भाई बड़े भाईके तिरस्कारके वाक्योंको भूलकर उनके पास फिर लौट आये।

भद्रता (सज्जनता) प्राचीन हिंदुओंके जीवनका एक प्रधान गुण है, पुराने ग्रन्थोंमें हम महान् पुरुषोंके वाक्य और कार्यमें एकसी भद्रता देखते हैं। वह भला हो या बुरा हो शत्रु हो चाहे मित्र हो सकल अतिथियोंके साथ एकसमान सज्जनताका व्यव-

हार करते थे। श्रीरामचंद्रजीका बोलना बडा ही कोमल था वह सदा मुसकराते हुये बात किया करते थे। संपदाकी अधीश्वरी भगवती महालक्ष्मीने किसी समय दानवोंके विषयमें कहा था वह बड़े ही मधुरभाषी हैं, सबके साथ बन्धुभावसे व्यवहार करते हैं और उनमें क्षमा गुण भी पूरा २ है, इन सब गुणोंके कारण ही मैं उनके घरमें बसती हूँ। परन्तु जिस समय वह क्रोधके वशमें होकर अनीतिका आचरण करने लगते हैं उसी समय आशा, विश्वास, ज्ञान, सन्तोष, जय, उन्नति और क्षमाको साथ लेकर उनको छोड़ जाती हूँ। नारदजी भी मीठा बोलनेवाले, उदारचित्त और स्पष्टवक्ता तथा क्रोध लोभसे शून्य थे। इसी कारण सर्व उनको श्रद्धा भक्तिके साथ प्रेम करते थे। भीष्मदेवने कहा था कि—दृष्टिसे वाणीसे वा मनके विचारसे भी दूसरेकी हीनता पर ध्यान न देना चाहिये। किसीकी बुराई करना भी ठीक नहीं है किसीको भी बुरा लगनेवाला आचरण वा अपकार हमको नहीं करना चाहिये दूसरा बात टालकर कहे तो उसकी उपेक्षा कर देना चाहिये। यदि कोई हमको क्रुद्ध करनेकी चेष्टा करे तो भी उसके साथ मीठे शब्दोंमें बातचीत करना चाहिये। यदि कोई अपनी निन्दा करे तो बदलेमें उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिये और एक स्थल पर देवर्षि नारदजीने पद्म नामक नागके विषय में कहा है कि—वह एक साथ कर्म, ज्ञान और भक्तिमार्गका अवलम्बन करके चलते थे वह सदा अतिथियोंके प्रिय और क्षमाशील थे किसीका अनिष्ट नहीं करते थे वह सत्यवादी द्वेषहीन प्रियवादी और सदा सबका उपकार करनेमें तत्पर रहते थे। एक समय शिक्षा पानेकी इच्छासे मैं उनके पास गया, परन्तु उससमय वह अपने घर नहीं थे उनकी स्त्रीने मुझ ब्राह्मणको सन्मानपूर्वक बैठनेको कहा, परन्तु मैं उसके पतिके आनेकी प्रतीक्षामें नदीके किनारे जाकर खड़ा रहा। वहाँ खड़े रहनेके समय उसने भोजन

नहीं किया नागराजके कुटुंबी मेरे समीप आकर आतिथ्य स्वीकार करनेके लिये मुझसे आग्रह करने लगे। उन्होंने कहा कि-आपके भूखे रहनेसे हमारा आतिथ्यधर्म नष्ट होता है इसलिये हमारे यहाँके बालकसे बूढे तक व्याकुल हैं मैंने धीरजके साथ कहा कि–आपके आदरके व्यवहारसे ही मैंने मानों भोजन कर लिया। परन्तु जब नागराजके साथ साक्षात्कार नहीं होगा तब तक मैं भोजन नहीं करूँगा। इतनेमें ही नागराज भी आगये, उनकी पत्नीके साथ जो बातचीत हुई थी, उसमें ही हम गृहस्थधर्मका बहुत कुछ उपदेश पाते हैं। सबका कार्य करना ही गृहस्थधर्म है। जो कोई अतिथिरूपसे आये उसकी यथाशक्ति शुश्रूषा करनी चाहिये। गृहस्थको प्रियभाषी, क्रोधहीन निरहंकार दयालु और सत्यवादी होना चाहिये। प्राचीन कालमें जातीय और पारिवारिक कर्त्तव्यकी ऐसी ही शिक्षा दी जाती थी।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः॥ ५५॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥ ५६॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा॥ ५७॥
जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः।
तानि कृत्याहतानीव विनश्यन्ति समन्ततः॥ ५८॥

मनु ३ अ०

पिता, भ्राता, पति और देवर यदि अपना परम कल्याण चाहें तो स्त्रियोंका भूषण आदिसे सन्मान करें॥५५॥ जहाँ नारियोंका यथोचित सन्मान होता है, तहाँ सकल देवता प्रसन्नतासे रहते हैं और जहाँ स्त्रियोंका आदर नहीं होता है, शास्त्र कहता है कि-उस घरकी सब क्रिया निष्फल होती है ५६ जहां कुलका स्त्रियें

मनमें दुःखित रहती हैं, वह कुल शीघ्रही नष्ट होजाता है, और जहाँ उनके मनको कुछ चिंता नहीं होती है वह कुल सदा फलता फूलता है ॥५७॥ यदि कुलनारियें अनादर पाकर किसी कुलको शाप देती हैं तो वह कुल उच्चाटन किया हुआ सा शीघ्र ही नष्ट भ्रष्ट होजाता है ॥ ५८ ॥

एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह ।
विप्राः प्राहुस्तथा चैतद्यो भर्त्ता सा स्मृताङ्गना ॥ ४५ ॥

(मनु ९ अ०)

मनुष्य-पुत्र स्त्री, और आप मिलकर एक पुरुष कहलाता है, इसलिये विद्वान् कहते हैं कि जो भर्त्ता हैं वही पत्नी है ॥४५॥

प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थञ्च मानवाः ।
तस्मात्साधारणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः ॥ ९६ ॥
अन्योन्यस्याव्यभीचारो भवेदामरणांतिकः ।
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ॥ १०१ ॥
तथा नित्यं यतेयातां स्त्रीपुंसौ तु कृतक्रियौ ।
यथा नाभिचरेतां तौ वियुक्ताविरेतरम् ॥ १०१ ॥

(मनु ९ अ०)

जननी बननेके लिये नारियोंको और संतान उत्पन्न करने के लिये पुरुषोंको रचा है, इसलिये यह दोनोंका साधारणधर्म है इसकारण पत्नीके साथ धर्मका आचरण करै ॥ ९६ ॥ मरण पर्यन्त दोनोंको एक मन होकर रहना चाहिये; यही संक्षेपसे स्त्री पुरुषोंका धर्म जाने ॥ १०१ ॥ नर और नारी विवाहित होकर दोनों नित्य धर्मको बढ़ावें, कभी विच्छिन्न न हों और मनसे भी परस्पर विश्वासघातका विचार न करैं ॥ १०२ ॥

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ १०१ ॥
अप्रणोद्योऽतिथिः सायं सूर्योढो गृहमेधिना ।

काले प्राप्तस्त्वकाले वा नास्यानश्नन् गृहे वसेत् ॥१०५॥
न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यञ्चातिथिभोजनम् ॥ २०६ ॥
(मनु अ० ३)

दरिद्र होनेपर भी अतिथिके सोनेके लिये तृण, बैठनेके लिये भूमि, चरण धोनेके लिये जल और प्रिय मीठी बाणी इन सबका अभाव सज्जनोंके घर कभी नहीं होसकता ॥१०१॥ सायंकाल के समय सूर्यदेवके भेजे हुए अतिथिको कभी निषेध नहीं करना चाहिये,चाहे समय पर आवे चाहे असमय आवै, घर आयेहुए अतिथिको कदापि भूँखा नहीं रखना चाहिये ॥ ११५ ॥ जो पदार्थ अतिथिको भोजन न करासकै, वह अति उत्तम होने पर भी अपन आप न खाये, अतिथिके प्रसन्न होनेपर गृहस्थ धन यश, आयु और स्वर्ग पाता है ॥ १०६ ॥

सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥ १०८ ॥

सत्य बोले, प्रिय बोले, अप्रिय हो तो सत्यवचन भी न कहै और प्रिय हो तो भी असत्य बात न कहै,यह सनातनधर्म है॥

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यक् गुप्ते च सर्वदा ।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥ १६० ॥
नारुन्तुदः स्यादार्त्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः ।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥ १६१ ॥
(मनु० २ अ०)

जो पुरुष अपनी बाणीको मिथ्याभाषण आदिसे और मन को काम क्रोध आदिसे बचाकर शुद्ध रखता है वह वेदान्तके ज्ञानका फल पाता है॥१६०॥ अत्यन्त पीड़ित होनेपर भी दूसरे को मर्मवेधी बात न कहै,जिससे दूसरेका अनिष्ट हो तो ऐसे किसी कर्मकी चिंता भी न करैं और जिस बातके कहनेसे लोग

व्याकुल हों परलोकमें बाधा डालने वाले ऐसे बचनका उच्चारण न करैं ॥ १६१ ॥

नास्तिक्यं वेदनिंदाञ्च देवतानाञ्च कुत्सनम् ।
द्वेषं दम्भञ्च मानञ्च क्रोधं तैक्ष्ण्यञ्च वर्जयेत् ॥ १६५ ॥

नास्तिकता, वेदनिंदा, देवनिंदा, द्वेष, दम्भ, मान, क्रोध और तीखेपनको त्यागदेय ॥ १६५ ॥

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी
न हीनतः परमभ्याददीत ।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत
न तां वदेदुषतीं पापलोक्याम् ॥ ८ ॥
अरुंतुदः परुषं तीक्ष्णवाचं
वाक्कण्टकैर्वितुदंतं मनुष्यान् ।
विद्यादलक्ष्मीकतमं जनानाम्
मुखे निरुद्धां निर्ऋतिं वहन्तम् ॥ ९ ॥
वाक्सायका वदनान्निष्पतंति
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु ॥ ११ ॥
न हीदृशं सम्वदन् त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
दया मैत्री च भूतेषु दानञ्च मधुरा च वाक् ॥१२॥
तस्मात्सान्त्वं सदा वाच्यं न वाच्यं परुषं क्वचित् ।
पूज्यान्सम्पूजयेद्द्यान्न च याचेत्कदाचन ॥१३॥

(महाभारत आदिपर्व ८७ अ०)

कठोर बचनसे किसीको दुःख न देय, छलसे शत्रुको न जीतै, जिस बाणीसे दूसरा व्याकुल हो उस पापमय बाणीका कभी उच्चारण न करै ॥८॥ मर्मभेदी तीक्ष्ण और कठोर बचनसे भी किसीको कष्ट न देय जो किसीको चित्त दुखानेवाला कठोर

वचन कहता है उसके मुखमें पाप राक्षसका वास होता है और लक्ष्मी उसको छोड़ जाती है ॥६॥ कठोर वचन तीखे बाणोंकी समान मुखमेंसे निकलकर प्राणलेनेके लिये जिसके शरीरमें लगते हैं, वह रात दिन रोता है, चतुर पुरुषको ऐसा वचन कभी न बोलना चाहिये ॥ ११ ॥ दया, मित्रता दानलेना और मधुर वाणी त्रिलोकीमें इसकी समान दूसरा धन नहीं है ॥१२॥ इस कारण सदा कोमल वचन कहै कठोर वचन कभी न कहै, पूजनीयोंका पूजन करे अपनी शक्तिके अनुसार दुःखितोंको दान देय और कभी किसीसे भिक्षा न माँगे।

क्रुद्धः पापं नरः कुर्यात् क्रुद्धो हन्यात् गुरूनपि ।
क्रुद्धः परुषया वाचा श्रेयसो ह्यवमन्यते ॥ ४ ॥
आत्मानमपि च क्रुद्धः प्रेषयेत् यमसादनम् ।
एतान् दोषान् प्रपश्यद्भिर्जितः क्रोधो मनीषिभिः ॥ ६ ॥

पुरुष क्रोधमें होकर पाप करता है, क्रोधमें गुरुजनोंकी हत्या कर डालता है और क्रोधमें कठोर वाणीसे मान्योंका अपमान करता है ॥ ४ ॥ क्रोधमें अपनेको भी यमपुरी पहुँचा देता है, इतने दोषोंको देखनेवाले विद्वानोंने क्रोधको जीता है ॥ ६ ॥

किंस्विदेकपदं ब्रह्मन् पुरुषः सम्यगाचरन् ।
प्रमाणं सर्वभूतानां यशश्चैवाप्नुयान्महत् ॥ २ ॥
सान्त्वमेकपदं शक्र पुरुषः सम्यगाचरन् ।
प्रमाणं सर्वभूतानां यशश्चैवाप्नुयान्महत् ॥ ३ ॥
एतदेकपदं शक्र सर्वलोकसुखावहम् ।
आचरन् सर्वभूतेषु प्रियो भवति सर्वदा ॥ ४ ॥

हे ब्रह्मन् ! ऐसी एक वस्तु कौन है कि जिसका आचरण करता हुआ पुरुष पूजनीय होता है और यश पाता है ॥२॥ वह एक वस्तु नम्रता है, जिसका आचरण करनेवाला आदर और यश पाता है ॥ ३ ॥ एक यह ही सब लोकोंको सुख देनेवाला

है, इसका आचरण करनेवाला सदा सब प्राणियोंका प्यारा होता है ॥ ४ ॥

यस्तु क्रोधं समुत्पन्नं प्रज्ञया प्रतिबाधते ।
तेजस्विनं तं विद्वांसो मन्यन्ते तत्त्वदर्शिनः ॥ १७ ॥
(महाभारत वनपर्व, अ० २९)

जो उत्पन्न हुए क्रोधको अपनी बुद्धिके बलसे रोक देता है, विद्वान् पुरुष उसको तेजस्वी मानते हैं ॥ १७ ॥

दशम अध्याय

निकृष्टों के साथ व्यवहार

हम संसारमेंको जितना अधिक प्रवेश करेंगे, उतना ही हमारी अपेक्षा छोटी अवस्थाके अज्ञानी, दरिद्र और नीच श्रेणीके लोगों के साथ हमारा सम्पर्क होगा । जो किसी प्रकार हमारी अपेक्षा निकृष्ट हैं, उनके साथ कैसा व्यवहार करनेपर और उनके संपर्क में किस २ गुणकी चर्चा और किस२ दोषका परिहार करनेपर ठीक २ निर्बाह होगा यह बात अवश्य मालूम होनी चाहिये ।

सबसे पहिले अपनेसे छोटी अवस्थावालोंके साथ व्यवहारका निर्णय करना आवश्यक है । उसमें पुत्र कन्या आदिके साथ पिता माताका व्यवहार ही मुख्य है । कोमलता, सहानुभूति मधुरता और दया यह पिता माताका प्रधान और आवश्यक धर्म है । इससे घरकी उन्नति होती है, पिता माता अपनी सन्तानसे प्रेम करें उनके कष्टोंको कष्ट समझें उनके सुखमें सुखी हों और उनके साथ सब विषयोंमें सहानुभूति दिखावें ।

यह विषय एक पुरानी कथामें उत्तमरूपसे वर्णित है । एक समय गौमाता सुरभिने देवराज इन्द्रके सामने जाकर रोते रोते कहा कि–मेरी सन्तानके कष्टसे मेरी छाती फटीजाती है देवराज यह देखो मेरी दुर्बल सन्ताने हलको उठानेमें असमर्थ होकर

वार२ भूमिपर गिर २ पड़तीं हैं तब निर्दयी किसान इनको दण्डोंसे पीटते हैं जो बलवान होते हैं वह अनायासमें ही बोझा उठासकते हैं, परन्तु दुर्बल सन्तानोंके कष्टको देखकर अपने रोने को नहीं रोक सकती हूँ, इनके कष्टको देख २ कर मेरा हृदय विदीर्ण होता है। इन्द्रने बूझा कि—क्या तुम्हारी सहस्रों संतानें इसीप्रकार कष्ट भोगती हैं। सुरभिने कहा—हे देवराज! मैं उन सहस्रोंमें हरएकके लिये रोती हूँ और उनमें जो अधिक दुर्बल है उसके लिये मुझको अधिक कष्ट है इन्द्रने इस बातको सुन कर समझा कि—संतानके लिये माताका मन कैसा व्यथित होता है तब उन्होंने भूतलपर जल वर्षाकर पशु और मनुष्य सब को आनन्दित करदिया।

रामचन्द्रजीके ऊपर दशरथजीके वात्सल्यका विचार करनेसे हृदय चौंक उठता है, वह अपने आदर्श पुत्रके गुणगान सुनकर जैसे अतुल आनंदित होते थे तैसेही उनके वनको जानेपर दुःखित हुए। जिस समय क्षत्रिय वीर और प्रजाके लोगोंने श्रीरामचंद्रजी का युवराज पदपर अभिषेक करनेके लिये आग्रह किया था उस समय जैसे प्रसन्न हुए थे तैसे ही जब कैकेयीने वन जानेके लिये बरदान माँगा तब उन्होंने रामके शोकमें रानीका निहोरा करतेहुए कहा था—

तिष्ठेल्लोको विना सूर्यं शस्यञ्च वर्षणं विना।
न तु रामं विना देहे तिष्ठेत्तु मम जीवनम्॥

चाहे सूर्यके बिना लोक ठहरा रहै, और चाहे वर्षाके बिना खेतमें अन्न भलेही ठहरा रहै, परन्तु रामके बिना मेरे प्राण शरीरमें नहीं रह सकते।

उन्होंने यह बात झूठ नहीं कही थी। वास्तवमें रामके विना उनके प्राण शरीरमें नहीं रहे। इसके सिवाय रामचन्द्र और कौशल्याके हृदयविदारक दृश्यको भी स्मरण करो, उन्होंने

रामचन्द्रको बन जानेके लिये निषेध किया था, हृदयमें चोट लगनेसे व्याकुल होकर विलाप करने लगी थीं और कहने लगीं कि-राम! तुम चले जाओगे तो मेरा हृदय सूख जायगा यदि तुम वनको जाओगे तो मैं भी तुम्हारे साथ२ वनको जाऊँगी जैसे गौ बछड़ेके पीछे२ जाती है वैसी ही दशा मेरी भी होगी।

इसके सिवाय कुन्तीके कष्टकी कथा परभी जरा ध्यान दो उसके पाँचों पुत्र वनको जाते हैं, वह कपटके जुएमें जीत लिये गए हैं, कुन्तीके हृदयका बल बहुत बढ़ाहुआ था। वह आदर्श नारी और आदर्शमाता थी युद्धके समय उसने श्रीकृष्णजीसे कहा था कि-पाण्डवोंसे कह दीजिये, कि इसबार माताके दूधका बल दिखानेका अवसर आया है, सन्मानकी रक्षा लिये प्राण देदेना भी अच्छा है। परन्तु ऐसी कुन्तीभी पाण्डवोंके वनको जाते समय रो उठी थी।

याद करो-अभिमन्युकी मृत्युसे शोकके कारण अर्जुनकी क्या दशा हुई। जिस समय वह रणक्षेत्रसे लौटकर शिबिरको आरहे थे उस समय उनको मालूम हुआ कि मानो उनके शरीरमें बल रहा हो नहीं। उन्होंने श्रीकृष्णजीसे इसका कारण बूझा, शिबिरमें आकर भ्राताओंसे भी बड़ी व्यग्रताके साथ इसका कारण बूझा, कोई भी उनको हृदयबिदारक पुत्रके मरण की बात न जतासका, परंतु उनका हृदय पुत्रके मरणकी यंत्रणा को भोग रहा था निःसंदेह उस बालकने शत्रुओंसे घिरकर अपने मनमें विचारा था कि-मेरे पिता अवश्य इस दारुण संकटसे मेरी रक्षा करेंगे। परंतु उसके पिता आ नहीं सके। उसको सैंकड़ा अस्त्रोंकी चोट खाकर प्राण त्यागने पड़े अर्जुन पुत्रकी रक्षा करनेको तहाँ आकर न पहुँचसके इस चिंतामें वह उन्मत्त से होगये थे, क्योंकि-चिरकाल तक बीरका हृदय दुर्बलकी

रक्षाके लिये व्यग्र रहता है और वह वीर यदि पिता तथा वह दुर्बल यदि परम प्रिय पुत्र हो तो इस व्यग्रभावकी सीमा नहीं रहती ।

यह दुर्बलकी रक्षारूप कर्त्तव्य पूर्णरूपसे राजाको ही शोभा देता है । इस कर्त्तव्यका साधन करके ही राजा प्रजाके हृदयमें राजभक्तिको जगादेता है। भीष्मजीने कहा था कि—प्रजाओंको प्रसन्न रखना ही राजधर्मका सार है । जैसे माता अपने गर्भसे उत्पन्न हुई संतानके कल्याणके लिये निरंतर व्यग्र रहती है तैसे ही प्रजाके मङ्गलके लिये राजाको व्यस्त रहना चाहिये जैसे माता अपने इच्छित विषयकी वासनाको त्यागकर केवल संतानके मङ्गलका ही ध्यान रखती है तैसे ही राजाको प्रजाके लिये करना चाहिये । यह रक्षाका कार्य इतना गुरुतर है कि—राजा सगरने अपने बड़े पुत्र असमञ्जसको उसके निर्दयीपनेके अपराध पर देश निकाला देदिया था ।

सज्जन राजाओंके दुर्बल शरणागतोंकी रक्षाके विषयके अनेकों उपाख्यान हैं । वह केवल मनुष्योंकी ही रक्षा नहीं करते थे. अन्य प्राणियों पर भी उनकी कृपा होती थी। महाप्रस्थानके समय एक कुत्ता हस्तिनापुरसे राजा युधिष्ठिरके पीछे २ जाकर उस दुर्गम मार्गको लाँघताहुआ उनके साथ२ गया था। इन्द्र स्वर्ग से राजाको लेजानेके लिये आये थे जब इंद्रने युधिष्ठिरसे रथ पर चढ़नेको कहा तब राजाने कुत्तेके माथेपर हाथ फेरकर कहा कि यह कुत्ता मेरा बड़ा ही प्रेमी है, यह भी मेरे साथ ही जायगा मेरा भी पृथ्वीकी इस संतानके ऊपर बड़ा ही प्रेम है। इंद्रने कहा कुत्तेको स्वर्गमें प्रवेश करका अधिकार नहीं है । हे राजन्! तुम ही मेरी समान अमरत्व,देवत्व,अतुलसम्पत्ति और दिव्यसुख के अधिकारी हुए हो इस कुत्तेको छोड़ो केवल यहही स्वर्गमें आरोहण करनेमें काँटेकी समान है ऐसा करनेमें कुछ निष्ठु-

रता नहीं है, यह पृथ्वीमें बद्ध है, पृथ्वी पर ही रहेगा युधिष्ठिरने कहा हे सहस्रलोचन! हे धर्ममय! किसी आर्यको अनार्यकी समान कार्य नहीं करना चाहिये, मैं शरणागतको त्यागकर स्वर्गका सुख नहीं चाहता। इद्रने दृढ़ताके साथ कहा कुत्तेको साथमें लेकर स्वर्गमें जाना नहीं होसकता। कुत्तेको त्यागकर शीघ्र ही आइये, वृथा समयको नष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं है। युधिष्ठिरने कहा शरणागतको त्यागनेकी समान भी दूसरा पाप नहीं है, विद्वानोंने कहा है इस पापका कुछ ठिकाना नहीं है, दुर्बल-शरणागतकी रक्षा न करना ब्रह्महत्याकी समान बड़ाभारी पापहै।

हे इंद्र! मैं स्वर्गसुख पानेके लिये शरणागत कुत्तेका त्याग नहीं करसकता, इंद्रने आज्ञा भी दी और प्रार्थना भी की, परन्तु परिणाम ज्योंका त्यों रहा युधिष्ठिर अपनी बातसे न हटे। वृथा तर्कवाद उनकी स्पष्टदृष्टिको लांघ न सका। इन्द्रने कहा-तुम स्त्री और भ्राताओंको त्यागकर आये हो फिर कुत्तेको त्यागनेमें क्या दोष है? युधिष्ठिरने कहा-मेरे भ्राता और द्रौपदीने शरीरको त्यागदिया है उनको बचानेकी मुझमें शक्ति नहीं थी, इसी कारण मुझे उनको छोड़ आना पड़ा। वह जबतक भी जीवित रहे उनको नहीं त्यागा, मेरे साथियोंमेंसे एक अबतक भी जीवित है, शरणागतको भय दिखाना, स्त्रीकी हत्या ब्राह्मणका धन हर लेना यह सब पाप और शरणागतका त्याग करना मेरी समझमें एक समान है यह कहनेपर उस कुत्तेने धर्मकी मूर्त्ति धारण कर ली और उसके तथा इन्द्रके साथ धर्मराज देवता औरऋषि मुनियोंसे स्तुति कियेजाते हुए स्वर्गको चलेगये।

और एक पुरानी कथा सुनिये। उशीनरके पुत्र राजा शिवि एकसमय सभासदोंके सहित सभामें बैठेहुए थे। इतने हीमें एक कबूतर आकाशमार्गसे उतरकर उनकी गोदमें आबैठा, यह कबूतर थकावट और भयके मारे जोरसे श्वास लेरहा था, राजा यत्नके

साथ उसकी शुश्रूषा करनेलगे। इतने हीमें एक बाज क्रोधमें भरा हुआ उस सभाभवनमें आया। कबूतरने बाजको देखकर कहा कि हे राजन्! मैं इस देशमें रहता हूँ और आप यहाँके राजा हैं, अब मैं आपकी शरण आया हूँ इसलिये आपको मेरी रक्षा करना चाहिये, बाजने कहा कि-मैं भी आपके राज्यमें रहता हूँ यह कबूतर मेरा दैवका दिया हुआ आहार है, मुझको आप मेरे अधिकारसे न हटाइये। राजाने कहा कि-तुम दोनोंका ही कहना ठीक है। हे कबूतर! तुझको मुझसे अभय माँगनेका अधिकार है और हे बाज तुमको भी भोजनकी सामग्रीसे वंचित करना अनुचित है। मुझको इन दोनों धर्मोंका पालन करना आवश्यक है, इसलिये हे बाज! तुम अपने भोजनके लिये मुझसे और कुछ माँगलो, मैं तुमको पेट भरकर भोजन करादूँगा बाजने कहा- मुझको इस कबूतरके सिवाय और कुछ नहीं चाहिये। और तुमको अन्य भोजन देकर अवश्य ही अपनी इच्छा पूरी करनी है तो इस कबूतरके देहकी बराबर अपने शरीरमेंका मांस दो। यह सुनते ही मंत्री लोग क्रोधमें भरकर उसी समय क्रूर हृदय बाजके प्राण लेनेको उद्यत हुए। परन्तु महाराज शिविने कहा कि मैं राजारूपसे सिंहासनपर बैठा हूँ, मुझको छोटे बड़ेका भेद करना उचित नहीं है। कबूतर या बाजके लिये नहीं किंतु केवल धर्मके लिये मुझको प्रजाओंकी दृष्टिमें आदर्श बनना आवश्यक है। जब छोटी ही बातका मुझसे निबटारा नहीं होसका तो फिर किसी बड़े विषयमें ठीक २ न्याय होनेकी क्या आशा? यदि मैं ठीक२ विचार न करूँगा तो प्रजाओं का अधःपतन होने लगेगा, इसलिये शीघ्रही तराजू लाओ आज्ञा टालनेमें असमर्थ होकर मनमें परम दुःखित होतेहुए मन्त्री लोग तराजू लाये। राजाने फोके हाथसे तराजूके एक पलड़ेमें कबूतर को बैठालदिया और दूसरे पलडेमें अपने हाथसेही छुरीसे अपने

शरीरमेंसे मांसका एक बड़ा लोंदा काटकर चढ़ादिया परन्तु वह कबूतरके बराबर नहीं हुआ, तब राजाने थोड़ासा मांस और काटकर चढाया,तब कबूतर ही भारी रहा, तीसरा टुकड़ा और काटकर चढ़ाया तब भी कबूतरकी बराबर नहीं हुआ। तब राजा ने अपना सारा शरीर चढ़ादिया,उसी समय कबूतर और बाजका रूप अन्तर्धान होकर वह अग्नि और इंद्र होगये और कहने लगे कि-हे शिवि ! तुमही सच्चे राजा नामके योग्य हो।राजाका मुख्य धर्म जो प्रजाओंकी रक्षा करना है,उसको तुमने उत्तमरूपसे सीखा हैं,हम तुम्हारे राजधर्मपालनके विषयमें जो कुछ सुनते थे आज हम ने उससे भी अधिक अपने नेत्रोंसे देखलिया तुम्हारी समान दूसरा नहीं है तुम चिरकालतक प्रजाओंके अंतःकरणमें निवास करो।

राजा लोग चिरकालतक दुर्बलोंकी रक्षा करनेमें ही अपने जीवनको बितादेते थे, इसीकारण यह सब कथायें आज तक प्रचलित हैं,बालक भी अपनी२ शक्तिके अनुसार दुर्बलोंकी रक्षा करसकते हैं, इन सब कथाओंको पढ़कर यदि हम अपने जीवनमें उनका अनुसरण न करें तो पढनेका कुछ भी फल नहीं हुआ।

रन्तिदेवकी समान दयालु राजा होना दुर्लभ है,एकसमय वह और उनके अनुचर ४८ दिनतक विना भोजन किये रहे।४९ वें दिन प्रातःकालके समय कुछ घी दूध जौ और जल इट्ठा किया गया,जिससमय वह इन पदार्थोंके खानेका उद्योग करते थे उसी समय एक ब्राह्मण अतिथिस्वरूपसे आपहुँचा, राजाने पहिले उसको सन्तोषके साथ भोजन कराकर विदा करदिया,फिर शेष बचेहुए सामानको तुल्यभागोंमें बाँटकर अनुचरों सहित भोजन करनेको बैठे-इतनेहीमें एक भूँखा शूद्र आपहुँचा उन्होंने उसको भी भोजनका कुछ भाग दिया,शूद्रके प्रसन्न चित्तसे चलेजानेपर राजा भोजन करनेको बैठे इतनेहीमें कितनेही भूँखे कुत्तोंको साथ में लिये हुए और एक भूखा पुरुष तहाँ आ पहुँचा। उस समय

राजाने अपना बचाबचाया भोजन सब उनको देदिया, वह भी प्रसन्न होकर चलेगए तब रन्तिदेवने देखा कि-बहुत थोड़ासा जल बच रहा है, और विचार रहे थे कि इसको ही पीकर अपनी प्यासको शांत करलूँगा इतनेहीमें उनके कानोंमें यह शब्द पहुँचा कि-मानो कोई कातर स्वरमें कररहा है कि-जल दो, एक बूँद जल दो, राजाने उधरको आँख उठाकर देखा तो एक चांडाल प्याससे कंठ सूखाहुआ भूमिपर पड़ा है। राजा रन्तिदेवने कातर भावसे उसके पास पहुँचकर बड़े यत्नसे उसका शिर ऊपरको उठाया और अपना जल देकर कहने लगे कि-पी भाई! रन्तिदेव के इस मधुर वाक्यसे ही उसकी आधी प्यास शांत होगई, जब चांडाल जल पीकर तृप्त होगया तब रन्तिदेवने हाथ जोड़ भगवान्से प्रार्थनाकी कि-हे दयामय! मैं अष्टसिद्धि नहीं चाहता निर्वाणपद भी मैं नहीं मांगता मैं जो सकल जीवोंके दुःखोंसे कातर होकर उनके नेत्रोंका जल पूँछसका वह सब प्रसन्न होकर स्वच्छन्द चलेगए इन तृष्णार्त्तोंकी तृष्णाको दूर करनेसे मेरे भूख प्यास आदि शरीरके सब दुःख दूर होगए। राजा रन्तिदेवकी इस प्रार्थनासे दयालुपनका कितना पता मिलता है।

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता॥
(मनु० २ अ०)

जिसमें हिंसा न हो इसप्रकार सकल प्राणियोंका श्रेय करना चाहिये, धर्मके अभिलाषीको मीठी प्यारी वाणी बोलना चाहिए॥ १५६॥

रक्षणादार्यवृत्तानां कंटकानाञ्च शोधनात्।
नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः॥
(मनु० ९ अ०)

श्रेष्ठ आचरणोंकी रक्षा और दुराचरणोंको दूर करते हुए प्रजाका पालन करनेसे राजे स्वर्गको जाते हैं।

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः ।
वर्णानामाश्रमाणाश्च राजा सृष्टोऽभिरक्षता ॥३५॥

(मनु ७ अ०)

अधिकारके अनुसार अपने२ धर्ममें स्थित सकल वर्ण और आश्रमोंकी रक्षा करनेवाला राजाको बनाया है ।

यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति ।
तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ॥११०॥

(मनु ७ अ०)

जैसे घासको दूर करके किसान खेतकी रक्षा करते हैं तैसे ही राजा शत्रुओंका नाश करके राज्यकी रक्षा करे ।

सुवासिनीः कुमारीश्च रोगिणीर्गर्भिणीस्तथा ।
अतिथिभ्योऽग्र एवैतान् भोजयेदविचारतः ॥ ११ ॥

(मनु ३ अ०)

नवीन विवाहिता स्त्री, कुमारी रोगिणी और गर्भिणी इनको अतिथिसे भी पहिले भोजन करादेय, इसमें कुछ विचार करने की आवश्यकता नहीं है ॥

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियः ।
स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च ।

(मनु० अ० २)

गाडीपर सवार नब्बे वर्षसे अधिक अवस्थावाला रोगी बोझी स्त्री स्नातक राजा और वरके लिए मार्ग छोड़ देना चाहिये ॥

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवम्वा ।
आर्त्तिं प्रपन्नोऽस्मि नृदेहभाजामन्तस्थिते येन भवन्त्वदुःखाः ।
क्षुत्तृट्श्रमो गात्रपरिश्रमश्च दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः ।
सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तोर्जिजीविषोर्जीवजलार्पणान्मे ॥

(श्रीमद्भागवत ९। २१)

ईश्वरकी परमगतिका पाना नहीं चाहता निर्वाणपद और अष्ट

सिद्धिको नहीं चाहता, हे दयामय! आपके चरणोंमें यही प्रार्थना है कि–संसारके सकल जीवोंको दुःख न हो। आज तुम्हारे जीवोंकी तृष्णाको दूर करनेसे भूँख, प्यास शरीरकी पीड़ा, दीनता, क्लेश, शोक, विषाद और मोह आदि सब दूर होगये।

अनुक्रोशो हि साधूनामापद्धर्मस्य लक्षणम्।
अनुक्रोशश्च साधूनां सदा प्रीतिं प्रयच्छति॥

(महाभारत अनुशासनपर्व)

कृपाभाव साधुओंकी दयालुताका लक्षण है, कृपाके कारण अनेकों आशीर्वाद मिलते हैं

—०—

एकादश अध्याय

परस्परके पाप पुण्यकी शक्ति

इस समय हमने अनेकों प्रकारके पाप पुण्यका स्वतन्त्र २ विचार किया और अनेकों उदाहरणोंके द्वारा पुण्यसे सुख मिलता है और पाप अनेकों कष्टोंकी खान है यह बात भी प्रमाणितकी अब एक पुण्य किसप्रकार दूसरे पुण्यको उत्पन्न करता है और पाप किसप्रकार अन्य पापको उत्पन्न करदेता है, इसका ही विचार करेंगे। यह विचार करनेपर पुण्यकार्यके द्वारा दूसरेको सुख उत्पन्न करनेवाली शक्ति प्राप्त होगी। हम स्वयं प्रेमभाव रखकर दूसरेके चित्तमें प्रेमकी वृद्धि करसकते हैं। घृणा करके दूसरेके चित्तमें घृणा उत्पन्न करसकते हैं। जो जिसको जिस भावसे चाहता है, उसके बदलेमें उस पुरुषका भी उसके ऊपर वैसाही भाव उत्पन्न होजाता है। क्रोधी पुरुष समीपके पुरुषोंके मनमें भी क्रोध उत्पन्न करदेता है इसीकारणसे कलह उत्पन्न होनेपर आगे को बराबर बढता ही चला जाता है और धीरे २ वह बहुत ही तीव्र होउठता है क्रोधीकी बातके उत्तरमें क्रोधकी बात

कहनेसे ही उसकी मात्रा अधिक ही होती चलीजाती है और मीठी बातोंसे मीठी बातें उत्पन्न होते २ अंतमें दया सत्कार्य आदिकी सृष्टि होजाती है।

इस तत्त्वको ठीक २ समझलेने पर हम उपयोगी सद्भावको उत्पन्न करके दूसरेके दुष्टभावका नाश करसकते हैं। यदि कोई हमसे क्रोधकी बात कहै, उसी समय क्रोधमें भरकर उत्तर देने की इच्छा होगी ही इसमें संदेह नहीं है, परन्तु उस समय उस चित्तकी वृत्तिको रोककर कोमलताके साथ उसका कारण बूझने पर अवश्य ही उसका क्रोध शांत होजायगा,इसका ही नाम बुरे के बदलेमें भला व्यवहार करना है। ऐसा व्यवहार करनेसे ही हम शान्ति स्थापन करसकते हैं और ऐसा करनेसे ही सब सुखी होसकते हैं।

जब द्रौपदीने बनवासके समय युधिष्ठिरको कौरवोंके ऊपर उत्तेजित करनेकी चेष्टाकी थी,उससमय उन्होंने द्रौपदीको धीरभावसे समझा दिया था कि-दुष्टव्यवहारके बदलेमें दुष्टव्यवहार करनेसे आगेको बराबर अमंगल ही अमंगल होता चला जाता है। ज्ञानी पुरुष, दूसरेके दुष्ट व्यवहारके द्वारा उत्तेजित करनेपर भी उसको सहजाते हैं उनके साथ कैसाही दुर्व्यवहार करो उनको क्रोध नहीं आता है इस अपनेको कष्ट देनेवाले की उपेक्षा करनेसे ही वह परलोकमें सुख पाते हैं। इसकारण ही ऐसा कहा है कि-ज्ञानी पुरुष चाहे दुर्बल हो; बलवान् हो,वह पीड़ा देनेवालोंके ऊपर सदा क्षमा करता है और यहाँ तक कि-यदि दुःख देनेवालेके ऊपर कष्ट आकर पड़े तो उसका उपकार ही करते हैं, अपकार नहीं करते हैं।यदि मनुष्योंमें कोई२ पृथ्वीकी समान क्षमाशील न हो तो मनुष्य-समाजमें शांति नहीं रहसकती निरन्तर क्रोधके कारण वादविवाद ही रहै यदि कोई अनिष्ट करै तो बदलेमें उसका अनिष्ट ही कियाजाय

और यदि कोई दण्डित हो तो उसको दण्ड दिलानेका ही यत्न कियाजाय तो अवश्यही सकल जीवोंका नाश होजाय और भूतलपर केवल पापका ही राज्य बढ़जाय। यदि सबही पुरुष दूसरेके मुखसे दुर्वचन सुनकर बदलेमें उसको दुर्वचन ही कहैं, यदि अपकार करनेवालेका बदलेमें अपकार ही करें, यदि दण्डित होनेवाले पुरुष दण्ड देनेवालेको दण्डही देना चाहें, तो पिता पुत्रकी पुत्र पिताकी पति स्त्रीकी और स्त्री पतिकी हत्या करने लगें। इसकारण हे कृष्ण! ऐसी क्रोध भरी भूमिपर फिर जीवों का उत्पन्न होना भी असम्भव होजाय क्योंकि-शान्तिके बिना जीवोंकी उत्पत्ति होही नहीं सकती।

राजा दशरथने किसप्रकार शान्तभावसे पत्नीके क्रोधको शान्त किया था उसको सुनिये। श्रीरामचन्द्रजीकी माता कौशल्याने अलौकिक पुत्र श्रीरामचन्द्रजीके बनवाससे दुःखित होकर क्रोधभरे स्वरमें स्वामीसे कहा था कि—तुमने निष्पाप पुत्रकी अपने हाथसे हत्या की है, तुम्हारे पूर्वपुरुष बड़े यत्नके साथ जिस मार्गकी रक्षा करते चले आते थे उस पुरातन नीतिमार्गमें तुमने खूब चलना आरम्भ किया है? स्त्रियोंका पहिला आश्रय पति ही है; दूसरा पुत्र और और तीसरे कुटुम्बी हैं तुमने मुझको त्यागदिया है राम भी चले गये मैं तुमको छोड़कर राम के पास भी नहीं जासकती हूँ, तुमने सब प्रकारसे मेरा नाश करदिया और राज्य तथा प्रजाओंकी भी रेड़ मारदी।

राजाने इस तीव्र दुत्कारको सुनकर दुःखित हो अपना मुख नीचेको करलिया, उनका चित्त घबड़ाया और मूर्छित होगये। मूर्छा दूर होने पर उनको समीपमें कौशिल्याको देखते ही अपने पहिले करेहुए उस पापका जिसके फलसे यह सब अनिष्ट हुआ स्मरण आया। उस पहिले करे हुए पाप और रामबियोगके संताप इन दोनों कष्टोंसे मुरझायेसे होकर हाथ जोड़े हुए राजा दशरथ

धीरे२कौशल्यासे कहनेलगे कि-कौशल्या ! क्षमाकर मैं हाथ जोड़े हुए भिक्षा माँगता हूँ क्षमा कर।तू सदा सबके लिए कोमलहृदया रही है; यह तेरा पति भला बुरा जैसा है उसको क्षमा कर। मैं दुःखके कारण परमव्याकुल होरहा हूँ,और अधिकतीखे वचनरूप बाणसे न वेध, कौशल्या राजाके ऐसे करुणाभरे वाक्योंको सुन कर अपने आँसुओंको न रोकसकी, उसके नेत्रोंमेंसे वर्षाकी समान आँसुओंकी झड़ी लगगई, क्रोध दूर होगया और स्वामी से जो कठोरबचन कहे थे, उनके कारण मनमें बड़ी पीडा पाने लगी, उसने राजाके दोनों हाथ अपने हाथोंसे अपने मस्तकपर रखकर कहा कि-नाथ ! मेरे अपराधको क्षमा करिये। मैं आपके चरणोंमें लोटकर कातर भावसे प्रार्थना करती हूँ कि-मुझको क्षमा करिये मैं क्षमाकी पात्र हूँ, क्योंकि मैंने जो बड़ाभारी पापकिया है उसको यदि आप क्षमा न करेंगे तो मेरा उद्धार होना कठिन है। जो मूर्ख स्त्री स्वामीके ऊपर जोर चलाकर उसको दुःख देनेकी चेष्टा करती है उसको इस लोकमें विज्ञ पुरुष कहीं अच्छा नहीं कहते। नाथ ! मैं धर्मको जानती हूँ और यह भी अच्छे प्रकारसे जानती हूँ कि-आप धर्मज्ञ हैं इसीकारण आपकी प्रतिज्ञाका पालन और सत्यकी रक्षा करूँगी पुत्रशोकसे ज्ञानहीन होकर ही मैंने दुर्वचन कहे थे। शोक धैर्यका नाश करदेता है, शोक ज्ञानका नाश करदेता है शोककी समान दूसरा शत्रु कोई नहीं है। मैं जब प्रियपुत्रके वनवासकी बात मनमें लाती हूँ तो शोकके कारण मेरा मन वर्षाकी नदीकी समान उबल उठता है। इसप्रकार राजा दशरथकी धीरतासे कौशल्याकी उग्रता नष्ट होगई थी। परन्तु यदि वह भी दुर्वाक्योंमें उत्तर देते तो निःसन्देह विरोध होकर घोर अशान्ति उत्पन्न होजाती और दोनों उस दुःखके समय अलग२ होकर बैठजाते परन्तु उस नम्रभाव ने दुर्वचनोंको सहकर क्रोधको शान्त करदिया क्रोधके बदलेमें कौशल्याका हृदय भी नम्रता और करुणासे आर्द्र होगया।

इसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणजीके क्रोध भरे अंतःकरणमेंसे। भरतजीके ऊपरका द्वेषभाव दूर किया था जब श्रीरामचन्द्रजीने अयोध्याको छोड़कर भाई और स्त्रीके साथ वनका आश्रय लिया उससमय एक दिन दूर पर कुछ सेनाके आने केसा कोलाहल सुनकर लक्ष्मणजीसे वृक्षपर चढ़कर उस कोलाहलका कारण देखनेको कहा, लक्ष्मणजी देखा, कि-भरत सेना को साथमें लिए आरहे हैं, वनवासके कष्टसे उनका मनउद्वेलित होही रहा था। उन्होंने भरतजीके ऊपर संदेह करके श्रीरामचंद्रजी के समीप आ भरतजीके साथ युद्ध करनेको तयार होनेकी संमति मांगी। उन्होंने समझा कि-भरत हमारा नाश करके निष्कंटक राज्य करनेके लिये ही आरहे हैं। परन्तु श्रीरामचन्द्रजीके हृदय में भरतजीके ऊपर ऐसा भाव नहीं था, उन्होंने कहा भाई! भरतका अविश्वास नकरो, मैं अभी उनसे कहदूँगा कि सब राज्य लक्ष्मण को देदो तो भरत प्रसन्नताके साथ 'हाँ देदिया' कहकर तुमको सर्वस्व देदेंगे। यह सुनकर लक्ष्मणजी क्रोधके स्थानमें उलटे लज्जित हुए। भरतजीने आकर श्रीरामचन्द्रको अयोध्यामें लेजानेके लिये बड़ी व्यग्रता दिखाई, परन्तु श्रीरामचन्द्रजीने पिताके सत्य पालनके व्रतका भंग नहीं किया। हारकर भरतजी ने उनकी दोनों खड़ाऊँ लेकर अयोध्याके राजसिंहासन पर स्थापित करदीं और श्रीरामचन्द्रजीके प्रतिनिधि बनकर चौदह वर्षतक राज्यका शासन किया।

वनवासके समय द्रौपदी और पांडवोंने युधिष्ठिरसे, प्रतिज्ञा भंग करके युद्ध करनेके लिये बार२ आग्रह किया, परन्तु शान्त स्वरूप युधिष्ठिरने अपनी स्त्री और भाइयोंके असह्य वचनोंकी सर्वथा उपेक्षा करके शांतिभरे वाक्योंमें उनको सत्य और न्याय का मार्ग दिखाया। एकदिन भीमसेनने अत्यन्त क्रुद्ध होकर जुएकी झूठी प्रतिज्ञा की रक्षा करना निष्प्रयोजन बता भाई को अनेकों ताने दिये और कहा कि तुम जानकर राज्य धनको

त्याग हृदयकी दुर्बलताके कारण मित्र स्त्री और आज्ञाकारी भाइयोंको कष्ट देरहे हो, तथा क्षत्रिय-धर्मको त्यागकर लोगोंमें हँसी करारहे हो परन्तु युधिष्ठिर इन सब बातोंसे विचलित नहीं हुए और कुछ देर चुप रहकर कहा कि-भीम ! तुम जो कुछ कहते हो सब ठीक है, तुम्हारी बातसे मेरे मनमें कष्ट होने पर भी मैं कुछ नहीं कहूँगा क्योंकि-मेरी निर्बुद्धताके कारणही तुम सबों को कष्ट हुआ है । मुझको अपना मन वशमें रखना उचित है स्वार्थ घमण्ड और क्रोधके वशमें होना ठीक नहीं है, इसकारण मैं तुम्हारे तीखे वचनोंका उत्तर कैसे देसकता हूँ परन्तु भाई मैंने जो प्रतिज्ञाकी है, उसको किसी प्रकार भङ्ग करके मिथ्यावादी होकर राज्य पानेकी अपेक्षा मेरी समझमें मरजाना अच्छा है तुम्हारे कष्ट देखकर मेरी छाती फटती है परन्तु इससे मैं अपनी प्रतिज्ञाको भङ्ग नहीं करसकता इसकारण मुझको कठोर वचन कहना निष्फल है, अच्छे दिन आनेकी प्रतीक्षा करो किसान कभी अन्न पानेकके लिये उतावला नहीं होता है भीम ! मेरी प्रतिज्ञाका भङ्ग होना ठीक नहीं है, क्योंकि-धर्मरक्षा जीवनसेही नहीं किंतु स्वर्गके सुखसे भी बढकर है । राज्य, पुत्र, यश, धन सम्पदा यह इकट्ठे होकर सत्यके सोलहवें भागकी समान भी नहीं होसकते । ऐसे धीरभावसे वह भ्राताओंके वाक्य और उत्तेजनाको सहते थे, सब दोषोंको अपनेही मानलेते थे इसीकारण उनके भ्राताओंका क्रोध बढ नहीं सकता था ।

जैसे धैर्यकी सहानुभूतिसे प्रेमकी उत्पत्ति होती है तैसे ही निःसन्देह हास्यसे घृणाकी उत्पत्ति होती है घृणासे ही सब प्रकारके अनिष्ट उत्पन्न होजाते हैं राजा युधिष्ठिरका यश दिग् दिगन्तमें फैला हुआ था लोग जहाँ तहाँ उनके राज्यसूय यज्ञकी कथा कहा करते थे उस यश और प्रशंसासे ही उनके प्रतिद्वन्द्वी दुर्योधनके हृदयमें ईर्षाका बीज उगा था वही ईर्षा भीम आदिके असावधानीके व्यवहारसे और भी बढ गई थी । क्योंकि एक

समय राजा युधिष्ठिर सभामें सुवर्णके सिंहासन पर योग्य मित्र और भ्राताओंके साथ बैठेहुए थे,इतनेमें दुर्योधनने अपने भाईयोंके सहित वहाँ प्रवेश किया, इस सभाको मय दानयवने अपनी शिल्पचातुरीसे बनाया था, दुर्योधनने स्फटिककी भूमिको जलसे भरीहुई समझकर सावधानीके साथ अपने वस्त्र ऊपरको उठाये और जलको थल समझ कर भ्रमसे उसमें गिरपडे, जिससे कि सब वस्त्र भीगगए यह देखकर भीमसेनने बड़े जोरसे कहकहा लगाकर दुर्योधनका उपहास किया तथा भीमसेनकी देखादेखी औरभी बहुतसे लोग हँसे। यद्यपि युधिष्ठिरने भीम आदिको इस अन्याय के व्यवहारको करनेके कारण दुत्कारा; परन्तु दुर्योधनके हृदय में एक साथ लज्जा और क्रोधका उदय हुआ,उसने उसी समय हस्तिनापुरमें आकर इसका बदला लेनेकी प्रतिज्ञाकी। यही द्यूत-क्रीड़ा और पाण्डवोंके बनवासका कारण हुआ, इसीके फलसे कुरुक्षेत्रका युद्धहुआ,जिसमें दोनों ओरके असंख्यों वीर कुटुंबियोंका प्राणांत होकर अंतको दुर्योधनके प्राणोंकी पूर्णाहुति हुई।

अहितके बदलेमें अहित करनेसे उत्तरोत्तर अमङ्गलकी ही वृद्धि होती है। भृगुपुत्र जमदग्नि तपस्या और कठोरताके विषय में प्रसिद्ध होगये हैं, परशुराम उनके ही वंशधर थे। परशुराम यद्यपि जातिमें ब्राह्मण थे, परन्तु उनका स्वभाव क्षत्रिय था अपने पितामहके कथनानुसार वह क्षत्रियके योग्य सकल गुणोंसे भूषित होकर प्रकटहुए थे जमदग्निमें कुछ उग्रता प्रच्छिन्नभावसे स्थित थी, वह कठोर तपस्यासे भी दूर नहीं हुई,उसके कारण ही इस वंशका बड़ाभारी दुर्दैव घटित हुआ था। जमदग्निने अपने उग्र स्वभावके कारण स्त्रीके सतीत्वमें संदेह करके अपने पुत्रोंको उसका वध करनेकी आज्ञा दी, परन्तु परशुरामके सिवाय और किसीने माताके पवित्र शरीरपर हाथ छोड़ना स्वीकार नहीं किया परशुरामने फरसेके प्रहारसे माताका मस्तक धड़से अलग करदिया। इससे प्रसन्न होकर उनके पिताने कहा कि-वर माँगले

परन्तु परशुरामजीने कहा कि-यही वर दीजिये कि-मेरी माता फिर जीवित होजाय, पिताने 'तथास्तु, कहा.तदनन्तर यह मातृ-हत्याके पापसे छूटनेके लिये तीर्थयात्रा करनेको चलदिये, परन्तु इतनेसे ही जमदग्निके क्रोधसे उत्पन्न हुआ पाप शान्त नहीं हुआ। एक समय जब जमदग्निके पुत्र आश्रमसे बाहर गये हुए थे और जमदग्निकी पत्नी रेणुका आश्रममें अकेली ही थी उस समय कार्त्तवीर्य अर्जुन अतिथि बनकर आये और क्षत्रियपन के घमण्डमें अन्धे होकर महर्षिके होमकी धेनुके बछड़ेको जबर-दस्ती लेकर चलेगये, परशुराम आये तो उनको यह अपमानकी कहानी जमदग्निने सुनाई। बछड़ेसे हीन हुई धेनुके कातर शब्द को सुनकर परशुरामजीका क्रोध और दूना होगया, वह उसी समय फरसा लिये हुए गए और अर्जुनकी सहस्र भुजाओंको काटकर उसको मारडाला। उससे कार्त्तवीर्यके कुटुम्बी क्रुद्ध होकर जमदग्निके आश्रममें घुसगये और जमदग्निको मारडाला क्षमाके सिवाय और किसी प्रकार दुर्दैव नहीं बचसकता था इसकारण हत्याकाण्ड यहाँ ही समाप्त नहीं हुआ। परशुरामने आश्रममें आकर पिताके मरणके समाचारको सुनकर उनकी और्ध्वदैहिक क्रिया की, उन्होंने पिताके सामने पृथिवीको क्षत्रिय-हीन करने की प्रतिज्ञाकी, उस प्रतिज्ञा की रक्षा करनेके लिये वह कार्त्तवीर्यके कुटुम्बी, सम्बन्धी और अन्यान्य क्षत्रि-योंका वध करनेमें ही लगे रहे। यदि हमारे साथ कोई अन्याय और निर्दयीपनेका व्यवहार करे तो उसके बदलेमें हमको मधुर वाक्य और श्रेष्ठ व्यवहारके द्वारा ही उसको परास्त करने का उद्योग करना चाहिये एक समय दुर्वासा ऋषि दुर्योधनके महलमें जाकर अतिथि हुए उनको प्रसन्न रखना बड़ा ही कठिन था दुर्योधन भ्राताओं सहित हर समय डरते हुए उनकी सेवाके लिये उपस्थित रहते थे। किसी समय दुर्वासा कहते थे कि—बड़ी भूख लगी है, शीघ्र भोजन लाओ, और फिर स्नान करने

को चलदेते थे। दुर्योधन भोजन तयार करके उनकी प्रतीक्षा करते थे। बहुत विलम्बसे लौटकर आते और कहने लगते कि- मुझको भूख नहीं है भोजन नहीं करूँगा फिर देर बाद आकर कहने लगते कि-शीघ्र भोजन दो। किसी दिन आधीरातको भोजन करना चाहा परन्तु भोजनकी सामग्री आने पर भी एक कणभी नहीं छुआ,इसप्रकार कितने ही दिनों तक दिक करनेपर दुर्योधन के धैर्यको देखकर प्रसन्न होगए और कहा कि-दुर्योधन मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हूँ जो अभिलाषा हो सो वर मांगले धर्म और नीतिके विरुद्ध न हो ऐसा जो कुछ पदार्थ तू मांगेगा वही दूँगा।

कभी२ मनुष्य इतना कठोर हृदय होजाता है कि-किसीप्रकार भी उसके हृदयमें बूंदभर भी दयाका उदय नहीं होता है। ऐसी दशा होजाने पर उसका अधःपतन अवश्य ही होता है। इसका स्पष्ट दृष्टांत दुर्योधन है, पांडवोंका सर्वस्व लेकर भी उसकी तृप्ति नहीं हुई अपने नेत्रोंसे उनको कष्टमें पड़ा हुआ देखकर तृप्त होनेके लिये और अपनी सम्पत्ति दिखाकर पाण्डवोंके मनको कष्ट देनेके लिये शकुनिकी सम्मतिसे अपने भ्राता और पुरवासियोंको साथ लेकर द्वैतवनमें गया, परन्तु इससे वह इच्छा सफल नहीं हुई। गन्धर्वराजने उसको तिरस्कारसे पकडकर नजरबन्द करलिया। दुर्योधनके अनुचरोंमेंसे दो एकने भागकर उस दुर्योधनकी विपत्ति का समाचार राजा युधिष्ठिरको सुनाया उन्होंने सुनते ही अपने भाइयोंको आज्ञा दी कि-अभी जाओ भाइयों सहित दुर्योधनको छुटाकर अपने वंशकी मर्यादाकी रक्षा करो। भीमसेनने पहिले तो यह बात नहीं मानी,परंतु जब युधिष्ठिरने कहा कि—भाई अनुचित जिद क्यों करते हो,यदि कोई शरणमें आवे सब प्रकारसे उसकी रक्षा करनी चाहिये, और एक शत्रुको विपत्तिसे बचाने में जो आनन्द होता है, उसकी बराबरी पुत्रजन्म राज्यलाभ और वरदानका आनन्द भी नहीं करसकता। यह सुनकर भीमसेनने फिर बड़े भ्राताकी आज्ञाको नहीं टाला। गंधर्वराजसे थोड़ी

ही देर युद्ध हुआ, क्योंकि वह अर्जुनके मित्र थे, इसकारण यह जानते ही कि-यह तो पाण्डव युद्ध कररहे हैं, उसीसमय युद्ध बंद करदिया। अर्जुनने गन्धर्वराजसे दुर्योधनके ऊपर आक्रमण करने का कारण बूझा तब उन्होंने कहा कि-पाण्डवोंके वनवासके कारण से होतेहुये कष्टको देखकर और अपनी संपत्ति दिखानेसे पांडवों के मनको दुःखित करके तृप्त होनेके लिये दुर्योधन सेनासहित वन में आया था। मैंने उसके मनका भाव जानलिया था, इसी कारण मेरी इच्छा थी कि—इसको बन्दी करके इन्द्रके पास लेजाकर यथोचित दंड दूँ। पाण्डवोंने गंधर्वराजकी प्रशंसा करके दुर्योधन को उसके साथियों सहित छोडदेनेको कहा। और छूटजाने पर युधिष्ठिरने दुर्योधनसे कहा भाइ आगापीछा बिना बिचारे चाहेजो कर बैठनेका स्वभाव छोड दो, इसमें तुमको कभी आराम नहीं मिलेगा तुम्हारा मङ्गल हो, अब तुम झगडेको छोडकर हस्तिनापुर में जाओ और सुखसे प्रजाओंका पालन करो। युधिष्ठिरने शत्रुके साथभी ऐसा व्यवहार किया, परंतु दुर्योधनका हृदय ऐसा क्रोध और दुःखसे भराहुआ था कि-उसको युधिष्ठिरका यह व्यवहार और दयालुभाव भी अपराध मालूम हुआ, वह हस्तिनापुरमें आकर इसी विचारमें मग्न रहनेलगा कि–किसप्रकार पाण्डवों का अनिष्ट करूँ? परंतु संसारमें दुर्योधनसे पुरुष कोई बिरले ही होंगे नहीं तो जैसे सूर्य माखनको ताकर बहादेता है, तैसेही दयालुताका व्यवहार प्रायः क्रोधको द्रवीभूत करदेता है।

क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्।

यदि कोई क्रोधकरे तो बदलेमें उसके ऊपर क्रोध नहीं करना चाहिये, किंतु कोई दुर्बचनभी कहै तो उसको मधुरशब्द में समझादे

सेतूंस्तरेद्दुस्तरानक्रोधेन क्रोधं सत्येनानृतम्।

वह दुस्तर नदीके पार होजाता है, जो कि–क्रोधको शान्तिसे और मिथ्याको सत्यसे जीतलेता है।

आत्मानञ्च परांश्चैव त्रायते महतो भयात्।
क्रुध्यन्तमप्रतिक्रुध्यन् द्वयोरेष चिकित्सकः॥

जो क्रोधीके ऊपर क्रोध नहीं करता है, वह अपनी और शत्रु की दोनोंकी रक्षा करनेवाला वैद्य है।

क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतञ्च भावि च ।
क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत् ॥

क्षमा ब्रह्म है, क्षमा सत्य है, क्षमा भूत है, क्षमा भविष्यत् है, क्षमा तप है और क्षमा शौच है क्षमा ही इस जगत्को धारण कियेहुए है

परश्चेदेनमिति वादभृशं विध्येच्छम एवेह कार्यम् ।
स रोष्यमाणः प्रतिहृष्यते यः स आदत्ते सुकृतं वै परस्य ॥
आक्रुश्यमाणो न वदामि किञ्चित् क्षमाम्यहं ताड्यमानश्च नित्यम्
श्रेष्ठं ह्येतदयं क्षमामाहुरार्याः सत्यं तथैवार्जवमानृशंस्यम् ॥
आक्रुश्यमाणो नाक्रुश्येन्मन्युरेनं तितिक्षतः ।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति ॥
येनात्युक्तः प्राह रूक्षं प्रियम्वा यो वा हतो न प्रतिहन्ति धैर्यात् ।
पापञ्च यो नेच्छति तस्य हन्तुः तस्येह देवाः स्पृहयन्ति नित्यम् ॥
पापीयसः क्षमेतैव श्रेयसः सदृशस्य च ।
विमानितो हतोत्क्रुष्ट एवं सिद्धिं गमिष्यति ॥

(महाभारत शान्तिपर्व ३०० अ०)

यदि कोई कटुवाक्य कहै तो चतुर पुरुष उससे रुष्ट न होय किंतु क्रोध दिखानेकी जो बात कही हो उसके बदलेमें हँसता हुआ मीठी बात कहैं, तो निःसन्देह क्रोधीके पुण्यको हरलेता है, कोई मुझको कटुवचन कहता है, तो मैं कुछ नहीं कहता, कोई मारता है तो मैं उसको सहलेता हूँ श्रेष्ठ पुरुषोंने क्षमा, सत्य, सरलता और शान्तभावको श्रेष्ठ कहा है कोई दुर्वाक्य कहै तो उसको दुर्वाक्य नहीं कहना चाहिये, क्रोधीके ऊपर रोष न करनेसे मान करनेवालेका शील ही उसको जलाता है और उसके पुण्यको छीन लेता है। जो कटुवचन के बदलेमें कटुवचन नहीं कहता है किंतु दयालु होकर शांति करता है जो चोट खाकर प्रहार नहीं करताहै उसके स्वभावको देवता भी चाहतेहैं दुर्वचन वा प्रहारको सहकर भी जो साधु व्यवहार करता है. उससे सिद्धि दूर नहीं होती है।

आक्रुष्टस्ताडितः क्रुद्धः क्षमते यो बलीयसः ।
यश्च नित्यं जितक्रोधो विद्वानुत्तमपूरुषः ॥

उत्तेजित, ताड़ित और क्रुद्ध किया जानेपर भी जो क्षमा करता है उस क्रोधको जीतने वालेसे उत्तम कोई नहीं है ।

यदि न स्युर्मनुष्येषु क्षमिणः पृथिवीसमाः ।
न स्यात्सन्धिर्मनुष्याणां क्रोधमूलो हि विग्रहः ॥
अभिषक्तो ह्यभिषजेदाहन्याद्गुरुणा हतः ।
एवं विनाशो भूतानामधर्मः प्रथितो भवेत् ॥ २६ ॥
आक्रुष्टः पुरुषः सर्वम्प्रत्याक्रोशेदनन्तरम् ।
प्रतिहन्याद्धतश्चैव तथा हिंस्याच्च हिंसितः ॥ २७ ॥
हन्युर्हि पितरः पुत्रान् पुत्रांश्चापि पितॄंस्तथा ।
हन्युश्च पतयो भार्याः पतीन् भार्यास्तथैव च ॥ २८ ॥
एवं संकुपिते लोके जन्म कृष्ण विद्यते ॥ २९ ॥

यदि पृथिवीको समान क्षमाशील न हों तो मेलका नाम भी न रहै, क्योंकि क्रोध कलहकी जड है । क्षमा न हो तो कोई बुराई करे तो उसके साथ बुराई करैं, गुरुजन ताड़ना करैं तो उन के ऊपर प्रहार करे, मारनेवालेको मारें और हिंसा करनेवाले की हिंसा करैं, पिता पुत्रोंका नाश करडाले पुत्र पिताओंके प्राण लें पति स्त्रियोंके प्राण लें और स्त्रियें पतियोंका सर्वनाश कर डालें ऐसी गड़बड़ी होनेपर लोकमें मनुष्य ही न रहैं ॥

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु ।
सर्वः सुखमवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु ॥

सब दुस्तर दुःखोंके पार हों सब सुखमंगल देखें सब सुख पावें और सब सर्वत्र आनन्दसे रहैं ।

सत्यं वद धर्मं चर सत्यमेव जयति नानृतम्

सत्य बोलो धर्माचरण करो सत्यकी सदा जय होती है झूठ की नहीं ।

सनातनधर्मशिक्षा समाप्त